CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri.

वेद-व्याकरण-पुराणेषु विशेषार्थबोधः

वसन्तकुमार म. भट्ट

संस्कृत साहित्य अकादमी
गांधीनगर

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

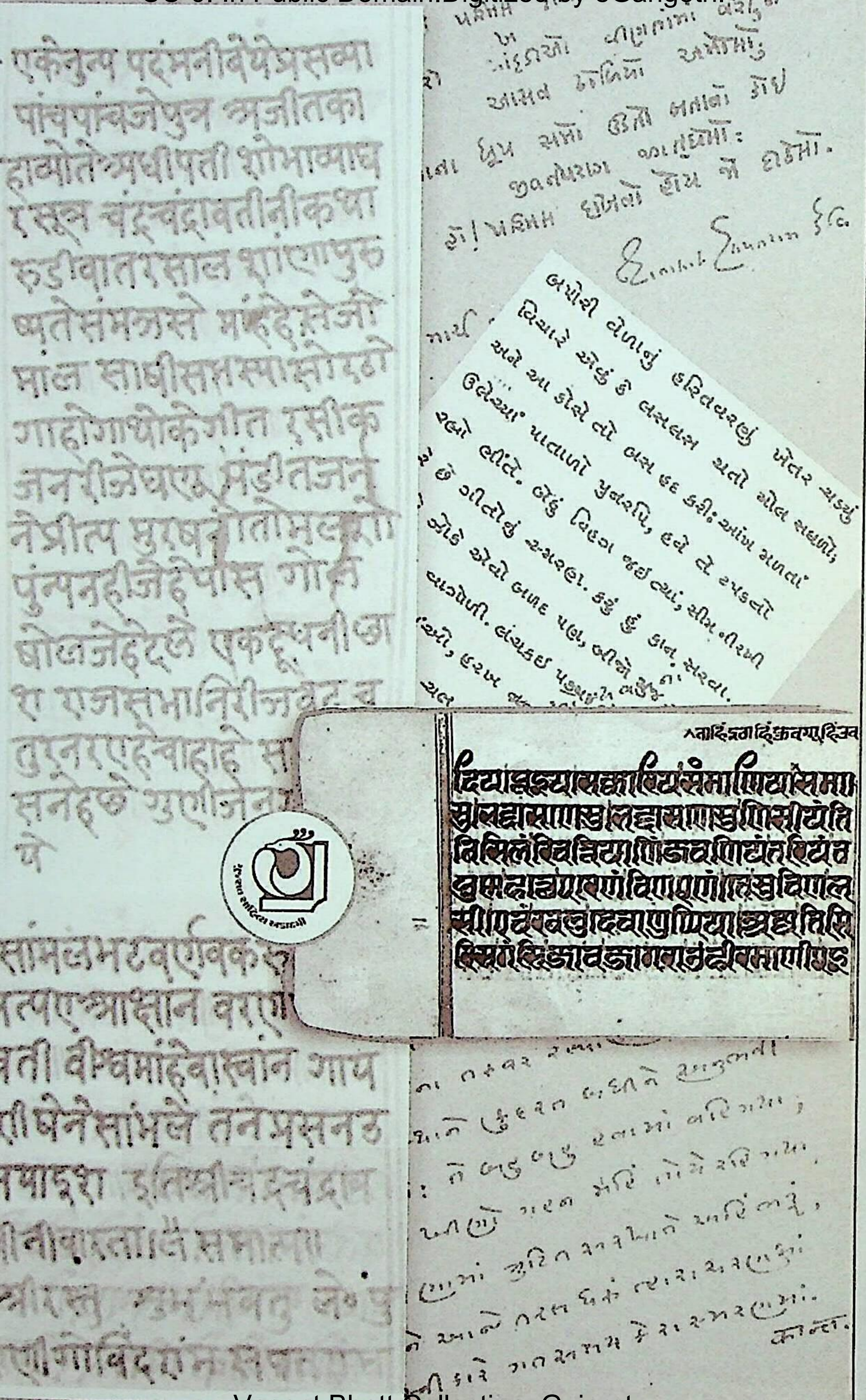

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

કવિ જયદેવના સંગીતકાવ્ય...
પાદની છઠ્ઠી આવૃત્તિનો ઉપ...
લોકો ઉત્સાહપૂર્વક ... લાભ લે...
રમાં તન્મયતા મેળવી સાથેસાથે મર્યાદ...
ભાષાની સરળતા ગુમાવતી નથી અને...
સરકારી છે. મૂળની સુવિખ્યાત સંદર્ભશુદ્ધિ...
ઉતારી નથી. વળી ગીર્વાણની રસસમૃદ્ધિ ...
ઓપનાવી છે, પણ ...રચના પરોઈ દર્શાવી...
સંસ્કરણમાં છાયા આકર્ષક રીતે ઓળખાઈ આવ...
સુરેખ કરવા કાળજી રાખી છે. બીજાનું અનુકરણ ...
ને ઉદ્દેશીને દલપતરામ કવિ કહે છે કે

...ન શકે ક્યાર ... ર ઉઠાવતું નથી
તેમ જ સુરાશો ... કરીરમાં જડનાર
માત્ર ... —જડનાર નહિ,
ભાગવત ... છે. કેટલા-
ભાગના રસિયાનું ... છે. તત્ત્વ-
જિજ્ઞાસુને તત્ત્વજ્ઞાનનું ... અનુવાદ આકર્ષે છે. ભક્તિભાવિત-

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

वेद-व्याकरण-पुराणेषु विशेषार्थबोधः

वसन्तकुमार म. भट्ट

संस्कृत साहित्य अकादमी
गांधीनगर

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

वेद-व्याकरण-पुराणेषु विशेषार्थबोधः
Authored by Vasantkumar M. Bhatt
Published by the Gujarat Sahitya Academy, Gandhinagar-382017

ISBN : 978-93-88197-48-9

© संस्कृत साहित्य अकादमी, गांधीनगर

प्रथम आवृत्ति : २०२०

प्रत : ३००

पृष्ठांक : ८ + १९० = १९८

मूल्य : १६० रूप्यकाणि

प्रकाशक :
डो. अजयसिंह चौहाण
महामात्र,
संस्कृत साहित्य अकादमी,
अभिलेखागार भवन, सेक्टर-१७,
गांधीनगर - ३८२०१७
दूरभाष : २३२-५६७९७, २३२-५६७९८

मुद्रक :
क्रिष्णा ग्राफिक्स
९६६, नारणपुरा गाँव,
नारणपुरा, अहमदाबाद-३८००१३
मो. ९८९८६५९९०२

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अध्यक्ष की ओर से

गुजरात संस्कृत अकादमी के द्वारा सुख्यात विद्वान् डो. वसन्तकुमार भट्ट लिखित ''वेद-व्याकरण-पुराणेषु विशेषार्थबोध:'' पुस्तक प्रकाशित हो रहा है ।

श्रीमान भट्ट हमारे मूर्धन्य विद्वान् है, अध्यापक भी रहे, गुजरात में संस्कृत-विद्वानो में उनका नाम प्रथम पंक्ति में है ।

आशा है कि गुजरात के संस्कृतप्रेमी पाठकों के लिए यह पुस्तक उपयोगी होगा ।

अध्यक्ष

संस्कृत साहित्य अकादमी

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

प्रकाशकीय निवेदन

गुजरात संस्कृत साहित्य अकादेमी, गांधीनगर की छत्रच्छाया में गूर्जर प्रदेश की धरा पर संस्कृत भाषा का प्राचीन वेद-शास्त्र-काव्य साहित्य का अध्ययन उपेक्षित न रहे एवं अर्वाचीन संस्कृत साहित्य भी पुष्पित पल्लवित होता रहे — इस आशय से यविष्ठ एवं वरिष्ठ विद्वानों के ग्रन्थों का प्रकाशन किया जाता है। इसी श्रेणी में डॉ. वसन्तकुमार म. भट्ट (पूर्व-निदेशक, भाषा-साहित्य भवन, गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदावाद) के "वेद-व्याकरण-पुराणेषु विशेषार्थबोधः" ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए अकादेमी हर्ष का अनुभव कर रही है। भारत देश की प्राचीन ज्ञान-सम्पत्ति के रूप में ऋग्वेदादि चार वेद, षड् वेदाङ्ग (जिनमें से एक व्याकरण वेदाङ्ग भी है) और अष्टादश पुराण का महत्त्व अद्वितीय है। क्योंकि इन ग्रन्थों में से प्रत्येक अभ्यासी को सभी युगों में नव-नवीन अर्थ-बोध होता है। गुजरात राज्य का नवोदित संस्कृत अध्यापक-गण भी ऐसे अनुसन्धानात्मक एवं विवेचनात्मक संस्कृत साहित्य का निर्माण करें ऐसी यह अकादेमी अभिलाषा व्यक्त करती है ॥

डो. भट्ट के द्वारा प्रस्तुत किये गये ये वेद-व्याकरणादि विषयक सभी शोध-लेख संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में लिखे गये हैं। यदि संस्कृत के ग्रन्थों ने सदियों से पुरे विश्व का ध्यान आकर्षित किया है तो ऐसे शोध-लेख संस्कृत में लिखे जाय वह अपेक्षित एवं अधिक स्पृहणीय है। क्योंकि इसी के कारण यह संग्रह गुजरात के संस्कृतानुरागीओं को तो लाभान्वित करेगा ही, लेकिन गुजरात राज्य के बाहर भी इसका प्रसार होने से गुजरात का भी गौरव बढेगा उसमें मुझे विश्वास है ॥

डो. अजयसिंह चौहान

महामात्र

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

मामकीनं निवेदनम्...

यह प्रसन्नता का विषय हैं कि गुजरात संस्कृत साहित्य अकादेमी, गांधीनगर के द्वारा मेरा "वेद-व्याकरण-पुराणेषु विशेषार्थबोध:" शीर्षकवाला पुस्तक प्रकाशित हो रहा है। इसमें जिन शोध-आलेखों का संकलन है वे प्राय: संस्कृत भाषा में उपनिबद्ध हैं, तथा कतिपय आलेख हिन्दी भाषा में भी लिखे गये हैं। अध्यापक की जीवनी में कक्षाओं में पढ़ाने का जब अवसर मिलता है तब पाठ्यक्रम में निर्धारित किये गये विषयों को अधिक गहेराई से समझने के लिए,पुरोगामी विद्वानों ने उन्हीं विषयों पर लिखे अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थों का अध्ययन भी अनिवार्यतया करना होता है। संस्कृत विषय का यह सौभाग्य है कि वह केवल राष्ट्रिय विषय न रह कर, आन्ताराष्ट्रिय कक्षा पर अध्ययन-अध्यापन का विषय बन गया है। जिसके फल स्वरूप दुनिया भर के दिग्गज पण्डितों ने संस्कृत के विविध विषयों में लिखे अनुसन्धानात्मक विचारों से अवगत होने का मौका भी मिलता है। तथा कदाचित् तेजस्वी छात्रों के द्वारा पूछे गये प्रश्नों का विशेष समाधान देने के लिए नवीन दिशाओं में सोचने की आवश्यकता भी खड़ी होती है। तीसरा बिन्दु है – प्रतिवर्ष आयोजित होनेवाले परिसंवाद, परिषदादि में जाने का मौका प्राप्त होना। ऐसे कुछ निमित्तों पर लिखे गये शोध-आलेख आपके करकमलों में विराजमान है। यहाँ प्रत्येक शोध-आलेख में विशेष अधीत, चिन्तन एवं तिर्यक् दृष्टि का परिणाम देखने को मिलेगा। जैसे कि, परम्परागत दृष्टि से वेदमन्त्रों को नियतानुपूर्वी वाले माने गये हैं। परन्तु उसका बुद्धिगम्य क्या कारण हो सकता है ? वह खोजने

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

के लिए, वेदमन्त्रों का एक वैयाकरण की दृष्टि से भाषिक अध्ययन किया गया, वह सब से पहले आलेख में रखा गया है। तत्पश्चात् पाणिनीय व्याकरण में अर्थ तत्त्व का क्या, कहाँ स्थान है ? उसकी चर्चा की गई है। पाणिनीय व्याकरण में लाघवसिद्धि के लिए अनुवृत्ति की युक्ति का विनियोग हुआ है। किन्तु उससे अष्टाध्यायी में अनुवृत्त हो रहे पद की अर्थच्छाया कुत्रचित् एक समान नहीं भी रहती है, विशेष रूप से जिस पद की मूलतः ही विभिन्न अर्थच्छटाएँ प्रचलन में होती है। वहाँ अनुगामी सूत्रों के अभीष्टार्थ को सही सन्दर्भ में पाने के लिए सावधानी बरतनी होती है– उसका एक निदर्श तीसरे आलेख में देखा जायेगा। तदनन्तर, पाणिनीय व्याकरण में ज्ञापकवचन, लक्षणा का अस्वीकार एवं व्यवस्थितविभाषा का स्वरूप एवं प्रयोजनादि की भी क्रमशः चर्चाएं प्रस्तुत की हैं। पाणिनीय व्याकरण का महिमा समझने के लिए अपाणिनीय व्याकरणों के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन भी करना चाहिए। इस लिए हेमचन्द्राचार्य जी की रूपाख्यान पद्धति का विश्लेषण अष्टम लेख में रखा है। उसी तरह से संस्कृत वाक्यसंरचना, अष्टाध्यायी में वृत्तिविचार, भट्टोजि दीक्षित के द्वारा लिखी गई क्षतियुक्त वृत्ति का परिशोधन, पूर्वमीमांसा के नियम एवं वैयाकरणों के परिभाषासूत्रों की तुलना जैसे रसप्रद एवं शास्त्रीय विषयों का परिष्कार शब्दबद्ध किये गये हैं, जो भविष्य की पीढ़ि को लाभदायक सिद्ध होगा। इनके साथ साथ यास्क एवं पाणिनि के काल–निर्धारण के लिए किया गया नवीन प्रयास, कोशविज्ञान का उषःकाल, वेदों में भारतवर्ष का भूखण्डादि विषय भी नेत्रोन्मीलन करेंगे, एवमेव शुनःशेपाख्यान का अभिनव मर्मोद्घाटन तो वैदिक साहित्य का गौरव बढानेवाला सिद्ध होगा। अन्त में जो पुराण विषयक शोध–आलेख रखे हैं वे भी, मुझे विश्वास है कि पुराणों के अध्ययन की नवीन दिशाओं का मार्गदर्शन करेंगे ॥

संस्कृत के अध्येताओं को इस पुस्तक में रखे आलेख लाभदायक एवं मार्गदर्शक बने यही आशा है। संस्कृत–ग्रन्थों की रचना पुरातन काल की है, किन्तु इनमें निहित ज्ञानसंपदा निरवधि है और जिसका अभी भी उत्खनन अनेक प्रयासों की अपेक्षा रखता है। इस शोधालेख–संग्रह को प्रकाशित करने के पीछे ''विद्यासत्रं वितनोतु नित्यम्'' जैसा जीवनमन्त्र ही प्रेरक है। जयतु संस्कृतम् ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

मेरे स्वाध्याय को सदैव सहज सहकार एवं बहुविध सुविधाएँ प्रदान करनेवाले मेरे प्रिय श्रीमती वृन्दा का हार्दिक अभिनन्दन एवं अभिवादन करता हूँ । इसके साथ गुजरात राज्य की संस्कृत साहित्य अकादेमी, गांधीनगर के सम्मान्य संस्कृतानुरागी अध्यक्ष पद्मश्री विष्णुभाई पण्ड्या एवं साहित्यरसिक महामात्र डॉ. श्री अजयसिंह चौहान जी के प्रति भी बहुत बहुत आभार व्यक्त करता हूँ ॥

15 August, 2019

वसन्तकुमार म. भट्ट

ए-2, सुरभि एपार्टमेन्ट,
सुभाष सोसायटी, विजय क्रोस रोड,
नवरंगपुरा, अहमदाबाद-380 009
Email : v.k.bhatt53@gmail.com
मो. 9427700064

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

उपक्रमानुक्रम

पृष्ठांक

1. वेदमन्त्रेषु नियतानुपूर्विताया भाषिकदृष्ट्याध्ययनम् । १
2. पाणिनीयव्याकरणेऽर्थतत्त्वं सम्भाषणसन्दर्भश्च । १५
3. पाणिनीयसूत्रयोर्हेतुपदस्यार्थः । २२
4. पाणिनीयव्याकरणे ज्ञापकसिद्धवचनानि । ३०
5. पाणिनीयव्याकरणे लक्षणायाः अस्वीकारे किं बीजम् । ४२
6. व्यवस्थितविभाषायाः स्वरूपं प्रयोजनञ्च । ४९
7. सिद्धहेमशब्दानुशासने रूपाख्यानपद्धतिः । ५४
8. संस्कृतवाक्यसंरचना । ६२
9. अष्टाध्याय्यां वृत्तिविचारः । ७१
10. स्पृहेरीप्सितः (1-4-36) एवं भट्टोजि दीक्षितादि । ८०
11. पूर्वमीमांसा का नियम एवं वैयाकरणों के परिभाषासूत्र ८४
12. यास्क एवं पाणिनि - काल तथा विषयवस्तु का अन्तराल ९४
13. सामवेदीय ऋक्तन्त्र-प्रातिशाख्य का विवेचनात्मक अभ्यास ११३
14. भारत में कोशविज्ञान की कब भोर भई ? १२५
15. वेदवाक्यों में पाद, वृत्त, स्वर एवं पदक्रम का संतुलित सौन्दर्य । १३०
16. पुत्रैषणापीडित संसार को शुनः-शेपाख्यान का सन्देश । १३९
17. हिरण्यगर्भसूक्त (10-121-4) में निर्दिष्ट भारतवर्ष का भूमण्डल १४७
18. श्रीमद्भागवत महापुराण में वैदिक देवतासृष्टि का तिरोधान १५३
19. स्कन्दपुराणे वर्णितं सोमनाथस्य प्रभासपत्तनस्य च खागोलिकं भौगोलिकञ्च माहात्म्यम् । १६४
20. मत्स्यपुराणे दृश्यमानानि निर्वचनानि । १७०
21. मार्कण्डेयपुराणस्थापाणिनीय-प्रयोगाणां वाचोयुक्तिः । १७८-१९०

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

1

वेदमन्त्रेषु नियतानुपूर्विताया भाषिकदृष्ट्याध्ययनम्[1]

भूमिका: — सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ॥ अयि समुपस्थिता वेद-वेदाङ्गविद्या-विशारदा विद्वांसः ! अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलनस्य 45 पञ्च-चत्वारिंशत्तमेऽधिवेशने (वैदिक-विभागे) भवतां समेषां स्वागतम् । व्यतीते वर्षद्वये वेदसाहित्यमधिकृत्य भारतवर्षे यत् किञ्चित् संशोधनकार्यजातं वितानितम्, तथा च ये केचन ग्रन्था मातृकातः सम्पादिताः सन्ति – तेषाम् सर्वेषां सूचनाः साकल्येनैकत्र समुपलब्धुम् अशक्यमिव प्रतिभाति । तथापि वेदविद्यायाम् काश्चन जिज्ञासाः सार्वकालिकाः सन्ति, तासु च नैकाः विवादा अपि सदैव प्रचलन्ति । तद्यथा अद्यावधि वेदमन्त्राणाम् अपौरुषेयत्वम्पारम्परिकतया यद्वा आस्तिक-बुद्ध्यैव स्वीक्रियते । अतः वेदानामपौरुषेयत्वं तर्कपुरस्सरं सप्रमाणं कथं प्रस्थापयितुं शक्यत इति विषयम् अवलम्ब्य नैके प्रयासाः करणीया इति प्रतीयते ॥ अतः अस्मिन् अधिवेशने विषयमिमम् अधिकृत्य अध्यक्षीयं वक्तव्यं प्रस्तोतुं समीहा जागर्ति ॥

वेदमन्त्रा ईश्वरप्रणीताः सन्तीति कथनाय, "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम् एतत् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणाम् अनुख्यानि व्याख्यानानि" इति श्रुतिवचनम्[2] पुरस्क्रियते । किन्तु प्राचीनेषु वेदाङ्गग्रन्थेष्वपि विषयमिममधिकृत्य न कोऽपि हेतुः प्रदत्तः । आचार्येण

1. अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलनम्, (४५तमम् अधिवेशनम्, 3-4 जून 2010) । राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठम्, तिरुपतिः । तत्र वैदिक-विभागस्याध्यक्षीयं प्रवचनम् ॥
2. बृहदारण्यकोपनिषद् – 4-5-10

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

यास्केन स्वकीये निरुक्त-वेदाङ्गशास्त्रे यदा कौत्सस्य "नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्याः (मन्त्रा भवन्तीति)" मतं परिहर्तुम्, मन्त्राणाञ्च सार्थकत्वम् उद्घोषयितुम् यो हेतुः पुरस्कृतः, स तु केवलं कामपि सुदृढाम् अपरिवर्त्या रूढिमेव प्रस्तौति। यास्केनात्रोक्तम् – यथो एतत् नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्याःभवन्तीति। लौकिकेष्वपि एतत्। यथा - इन्द्राग्नी, पितापुत्राविति[3]। अत्र यास्केन समग्रस्य वाक्यस्योदहरणं प्रदर्श्य तत्र कथं नियतपदानुपूर्विता सिद्ध्यतीति न निर्दिष्टम्। एवञ्च यास्केनोपस्थापितेऽस्मिन्नुदाहरणद्वये रूढितः पदक्रमो नियतो दृश्यते। अत्र वेदस्य नियतानुपूर्वित्वम् कथं सिद्ध्यतीति प्रतिपादनाय हेतुत्वेन न किञ्चिदुक्तम्॥ अतः वेदमन्त्राणां, विशेषतश्च प्राचीनतमस्य ऋग्वेदस्य मन्त्राणां भाषालक्षितम् अध्ययनं कृत्वा, केन कारणेन ऋग्वेदस्य नियतानुपूर्विता सिद्ध्यतीति प्रतिपादनाय यत्नो विधेयः। यतो हि – महर्षिणा पाणिनिना *'दृष्टं साम'*। (2-3-47), *'वामदेवाड्ड्यड्यौ'*। (4-2-9)इत्यादीनि नैकानि सूत्राणि विरचितानि। तैश्च सूत्रैर्वेदा अपौरुषेया इति पाणिनिनाप्यङ्गीकृते सति, ऋग्वेदस्य मन्त्राणाम् सर्वाङ्गीणम् अध्ययनं कृत्वा, पाणिनिना तेषु मन्त्रेषु प्रवर्तमानाम् उदात्तादि-स्वरविशेष-विषयकाणां नियमानामुपरि प्रकाशो विहितः। आचार्येण शौनकेनापि छन्दोबद्धानां मन्त्राणां वृत्तादीनि विवृतानि सन्ति। किन्तु वेदमन्त्रेषु प्रवर्तमानानाम् नियमानां वृत्तादीनाम् च प्रदर्शनेन तेषाम् अपौरुषेयत्वं न व्याहन्यते। यतो हि – महाभाष्यकारः पतञ्जलिर्भणति तादृशेषु नियमेषु *'दृष्टानुविधयश्छन्दसि'* इत्येव दर्शनम् अङ्गीक्रियते। अतः पाणिनिना शौनकेन च वेदमन्त्राणां संरचनाविषये ये ये नियमा प्रदर्शिताः, तान् नियमानेव विविच्य वेदमन्त्राणां नियतानुपूर्विता प्रस्थापनीयेति मे मतिः। अत एभिर्महर्षिभिः वेदमन्त्राणाम् सूक्ष्मेक्षिकयाऽध्ययनं कृत्वा, तत्र छन्दोविषयेषु पदस्वरविषयेषु वाक्यस्वरविषयेषु च प्रवर्तमानानां ये ये नियमा निष्कर्षरूपेण प्रदर्श्यन्ते तेषामेव विनियोगं कृत्वाऽस्माभिर्वेदस्य नियतानुपूर्विताया (अर्थात् वेदमन्त्रेषु नियतपदक्रमस्य) को हेतुरिति ज्ञातुं शक्यते।

1–0 ऋग्वेदस्य मन्त्राश्छन्दोबद्धाः सन्ति। अतः, तेषाम् वाक्यानां पदक्रमस्तु गेयताम् उद्दिश्यैव निर्धायत इति संभाव्यते। अस्यां स्थितौ वेदमन्त्राणां

---

3. निरुक्तम् (अध्यायः १, पञ्चमः पादः)

45th Session of the All India Oriental Conference, (2-4 June, 2010), Presidential address at the Vedic section, Tirupati.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

पदक्रमोऽन्येन केन हेतुना निश्चितं स्यादिति विचारणाया अवकाश एव नास्ति। ए. ए. मेकडॉनलमहाशयेनापि विषयेऽस्मिंश्छन्दोबद्धानां मन्त्राणाम् उदाहरणानि नैव प्रदत्तानि। किन्तु ब्राह्मणग्रन्थानाम् उदाहरणानि पुरस्कृत्यैव तैः[4] (A., 1993) पदक्रमस्य विचारणोपस्थापिता दृश्यते ॥ एवमेव, डॉ. राम गोपालमहाशयेन, तथा च डॉ. श्रीव्रजविहारी चौबेमहाशयेनापि (व्रजविहारी, 2004) एतादृशी विचारणा नैव समुपस्थापिता। अद्यावधि वेदानां नियतपदक्रमविषये येन केनापि विचारणा कृता, तैः सर्वैः वेदानां छन्दोबद्धतां पुरस्कृत्य तस्योपेक्षा कृता। यद्वा पाणिनेः स्वरविधायकानि सूत्राण्यपि किं कथयन्ति तन्नैव समीक्षितम्। वेदमन्त्रा न केवलं छन्दोबद्धाः सन्ति, ते तूदात्तादिस्वरयुक्ता अपि सन्ति इति सदैव स्मर्तव्यं चिन्तनीयञ्च ॥ छन्दोज्ञानं स्वरादिज्ञानञ्च – इत्युभयोरपि परस्परं संकलनां कृत्वा नियतानुपूर्विता समीक्षणीया।

1–1 वेदमन्त्रेषु वाक्यानाम् आन्तरिकीं संरचनाम् अवबोद्धुम् वृत्तज्ञानम् 'इदं-प्रथमतया'अतीवावश्यकम्। यतो हि ऋग्वेदस्य मन्त्राणां रचना तु छन्दसि वर्तते। अत एव च, वेदस्य कृते 'छन्दस्' इति संज्ञापि प्रचलिता वर्तते। यदि वेदमन्त्राणां रचना कस्मिंश्चिच्छन्दसि भवेत्, तर्हि विविधानां छन्दसाम् पादज्ञानमपि कर्तव्यम्। नियताक्षराणां पादानाम् ज्ञानेनैव छन्दो-ज्ञानं भवति। अतः पिङ्गलछन्दः-सूत्रस्योपरि हलायुधेन स्वटीकायां लिखितं - "*छन्दःशब्देनाक्षरसंख्यावच्छेदोऽत्राभिधीयते*" इति (पिङ्गलमुनिः, 1947)। ऋग्वेद-प्रातिशाख्ये शौनकेनोक्तम् – अक्षराण्येव *सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम्। विद्याद् विप्रतिपन्नानां पाद-वृत्ताक्षरैर्ऋचाम्*[5] ॥ अर्थात् अक्षरसंख्ययैव पादस्य प्रकारो निर्णीयते। ततश्च, पादस्वरूपज्ञानेन वृत्तस्य निर्धारणं भवति। तद्यथा – त्रिभिरष्टाक्षरगायत्रपादैर् मन्त्रोऽयम् गायत्रीछन्दसि वर्तते, यद्वा चतुर्णाम् अष्टाक्षरगायत्रपादानाम् संयोजने सति मन्त्रोऽयम् अनुष्टभि छन्दसि वर्तत इति निश्चीयते। किन्तु मन्त्राणां रचना छन्दोपनिबद्धा दृश्यते, तत्र च गानस्यैव प्राधान्यं स्यादिति विचार्य, तेषां मन्त्राणां पदक्रमस्य नियमनं केन क्रियत इति अन्वेषणां त्यक्तुं नार्हति कोऽपि जिज्ञासुः।

4. 191 – चूंकि संहिताओं में छन्दोनुरोध शब्दों के सामान्यक्रम में बहुत अधिक परिवर्तन कर डालता है, इस लिये शब्दों का सबसे सुन्दर निदर्शन ब्राह्मणग्रन्थों का गद्य है। जहाँ कि वह निस्सन्देह अपने मूलरूप में उपलब्ध है। A. A. Macdonell, Vedic Grammar for Students, Pub. Motilal Banarasidass, New Delhi, 1993, pp. 372
5. ऋग्वेद प्रातिशाख्यम् ॥ छन्दःपटलम् - 21

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

यतो हि – वैदिकछन्दसाम् यद् वृत्तम् अस्ति तत् न प्रत्येकस्मिन् अक्षरे व्याप्तम् आस्ते । ऋग्वेद-प्रातिशाख्ये शौनकेनोक्तम् –वर्षिष्ठाऽ*णिष्ठयोरेषां लघूपोत्तमम् अक्षरम् । गुर्ववेतरयोर्ऋक्षु तद् वृत्तं छन्दसां प्राहुः ॥* (छन्दःपटलम् 17 / 39) अर्थात् अष्टाक्षरे गायत्रपादे, द्वादशाक्षरे च जागतपादे य उपान्त्योऽक्षरः स्यात् स लघुरेव भवितुम् अर्हति । एवमेव, दशाक्षरे वैराजपादे तथा एकादशाक्षरे त्रैष्टुभपादे य उपान्त्योऽक्षरः स्यात् स गुरुरेव भवितुम् अर्हति । इत्थं यदि वैदिकछन्दसि एकस्मिन्नेवाक्षरे वृत्तस्य परिपालनाय नियमः स्यात्, तर्हि पादस्यावशिष्टेषु अक्षरेषु कवीनां कृते पदक्रमस्य निर्धारणाय स्वातन्त्र्यम् विलसतितमाम् । सति च तादृशे स्वातन्त्र्ये वेदमन्त्रेषु दृश्यमानं पदक्रमम् अभिलक्ष्य नियतानुपूर्विता कथं स्यादिति गवेषणा करणीयैव ॥

1–2 ऋग्वेदस्य मन्त्रेषु छन्दसो वृत्तं परीक्ष्यमाणे पूर्वोक्तम् वृत्तं सर्वदा सर्वत्र परिपाल्यत इति दृश्यतेः – तद्यथा श्रेष्ठं यविष्ठ भारताग्ने द्युमन्तमा भर । वसो पुरुस्पृहं रयिम् ॥ ऋग्वेदसंहिता – 2-7-1 अत्र मन्त्रे गायत्रीछन्दो वर्तते । अतस्तत्र भर – रयिम् इत्येतयोरुपान्त्ययोर् वर्णयोर् लघ्वक्षरौ स्तः । एवम् एव शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम् अस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ । शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ऋग्वेदसंहिता 3-49-5 चतुर्ष्वपि पादेष्वत्रोपान्त्याक्षरेषु गुरुसंज्ञकाक्षराः प्रयुक्ताः सन्तीति दृश्यन्ते । अतः कोऽपि जनो यदि वेदमन्त्राणां नियतानुपूर्वितां परिवर्तयेत् तर्हि वृत्तभङ्गम् अपि भवेदिति भीतिः समुद्भवति । नियताक्षरपादेषु वृत्तस्य यदि परिपालनं न भवेत्तर्हि छन्दोमर्यादापि संरक्षिता न स्यात् ॥

2–1 ऋग्वेद-प्रातिशाख्ये शौनकेन नियताक्षर-पादबद्धे छन्दसि एकम् अन्यमपि नियन्त्रणं उल्लिखितम् । तद्यथा – *अनुदात्तं तु पादादौ नोवर्जं विद्यते पदम्* । (शौनक, 1970)[6] अर्थात् पादारम्भे केवलम् उवर्णम् वर्जयित्वा, नैकमप्यनुदात्तम् पदं समागन्तुम् अर्हति । तात्पर्यतः पादारम्भ इदमपि नियन्त्रणम् वर्तते, यत्पादारम्भे किमप्युदात्तस्वरयुक्तं पदमेव प्रयोक्तव्यम् । शौनकेनोल्लिखितं द्वितीयं नियन्त्रणमिदं वेदवाक्येषु पदक्रमस्य नियतानुपूर्वितां दृढीकरोति ॥

3–0 वेदमन्त्रा न केवलं छन्दोबद्धाः सन्ति, ते तूदात्तादिस्वरयुक्ता अपि

6. ऋग्वेद-प्रातिशाख्यम् । (पटलम् - 17 / 27)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

सन्तीति समेषां विदितमेव। अतः वेदमन्त्रेषु नियतपदक्रमं यदि कोऽपि विपरिवर्तयेत् तर्हि पादादौ वापादादौ स्थितानां पदानाम् इष्टस्वरधर्मा अपि स्वकीयं स्वरूपं त्यजेयुः। येनाभीप्सितार्थस्य प्राप्तिरपि न भवेद्। इत्थं वेदमन्त्रेषु नियतानुपूर्विताया कारणम् अवगन्तुम् पाणिनेः स्वरविधायकानि सूत्राण्यपि सूक्ष्मेक्षिकया परीक्षणीयानि। प्रत्येकस्मिन् पदे ये ये प्रकृतिस्वराः स्युः, तेषाम् अपि संरक्षणं भवितुम् अर्हतीति तृतीयं नियन्त्रणम् अस्ति वेदमन्त्राणां नियतानुपूर्विताविषये ॥

3–1 पाणिनेर्व्याकरण-वेदाङ्गाज् ज्ञायते यद् प्रकृति-प्रत्यययोः संयोजनं कृत्वा किमपि पदं निष्पाद्यते तदा तयोरुदात्तादयः स्वरधर्मा अपि मिथः संयोज्यन्ते। परिणामतः यानि सुबन्तानि तिङन्तानि च पदानि (लौकिकवैदिक) भाषायां प्रयुज्यन्ते, तानि सर्वाणि 'उदात्तादि'- स्वरयुक्तान्येव भवन्ति । येषाञ्च निपातादीनां पदानां व्युत्पत्तिर्नैव प्रदर्श्यते, तेषां नियतस्वराः फिट्-सूत्रकारेण निर्दिश्यन्ते (दीक्षितः 1929)[7]। तद्यथा – 1. *निपाता आद्युदात्ताः ।* (फिट्सूत्रम् 4 / 80), 2. *उपसर्गाश्चाभि-वर्जाः ।* (फिट्सूत्रम् 4 / 81), 3. *चादयोऽनुदात्ताः ।* (फिट्सूत्रम् 4 / 85)। एवमेव, युष्मदस्मदादीनाम् यानि वैकल्पिकानि रूपाणि सन्ति तेषाम् अनुदात्त एव स्वरो भवतीति शब्दानुशासनतो ज्ञायते (पाणिनिः 1985)[8]। तथैव च, बहुव्रीहि-तत्पुरुषादीनाम् समासादीनाम् अपि ये स्वर-विशेषा भवन्ति, तेषामपि निर्देशाः पाणिनीयानुशासने प्राप्यन्ते (पाणिनिः 1985)। तद्यथा —बहुव्रीहौ *प्रकृत्या पूर्वपदम् ।* (6-2-1) इत्यादयः। पदनिर्माणकाल एव ये ये स्वरविशेषाः समद्भूताः सन्ति, तेषाम् स्वरूपम् (प्रकृतिस्वरत्वं) वाक्यावस्थायाम् अपि तथैव भवितुमर्हति। अतः वेदकालिकैः कविभिर्यदा मन्त्रेषु विविधानां शब्दानां यः कोऽपि पदक्रमो निर्धारितो (आर्षदृष्ट्या दृष्टो वा) स्यात् तत्र प्रत्येकानां पदानां (मौलिकाः) प्रकृतिस्वरास्तथैव स्थातुम् अर्हन्ति। वेदमन्त्रेषु पदक्रमस्य परीक्षणायैतच्च तृतीयं नियन्त्रणम् ध्यानास्पदमस्ति ॥

3–2 वेदमन्त्राणाम् पदक्रमम् अधिकृत्य यदा विचारणा प्रारभ्यते तदा छन्दसो नियताक्षरः पादविशेषः, सुनिश्चितं वृत्तम्, पादारम्भेऽनुदात्तस्याभाव इत्येतत् सर्वं संरक्ष्य, कविभिः प्रत्येकानां पदानां पूर्वनिर्धारिताः प्रकृतिस्वरा अपि यथावत्

---

7. वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी (तत्त्वबोधिनीसहिता), सं. वासुदेव पणशीकर, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई, 1929, पृ. 627
8. अष्टाध्यायी (अ. 8-1-20,21,22 (पाणिनिः, 1985)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

संप्रयोज्या आसन् इति । किन्त्वस्मिन्नवसरे तैः कविभिः (1) तिङन्तपदस्य, (2) आमन्त्रित-संज्ञकस्य च पदस्य वृत्त-पादे उपस्थितिक्रमाङ्कम् अभिलक्ष्य तयोः प्रकृतिस्वराः परिवर्तिताः / परिवर्तनशीला दृष्टाः / आसन् । अतः पाणिनीयं व्याकरणम् अवलम्ब्य वेदमन्त्रेषु विद्यमानानां तिङन्तपदस्य, सम्बोधनपदस्य च पादारम्भे प्रकृतिस्वरत्वं दृश्यते, यद्वाऽपादादौ सर्वानुदात्तत्वं दृश्यते - तत्परीक्षणीयं भवति । पाणिनिप्रोक्तं स्वरविधिम् असमीक्ष्य वेदवाक्यानाम् नियतानुपूर्विकता कथं स्वयं समुद्भूतेति न ज्ञायते ॥

4–0 महर्षिणा पाणिनिना वाक्यस्य संज्ञाविधायकम् एकमपि सूत्रं नैव प्रदत्तम् । परन्तु पतञ्जलिना 'एकतिङ् वाक्यम्' इति समर्थाह्निके भणितम् । ''आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यमित्य''न्यदपि लक्षणं (2-1-1) तेन विहितम् । अत्र वाक्येति संज्ञायाः कृते तिङन्तपदस्यानिवार्यता वर्तत इति संसूच्यते । एवञ्च, तिङन्तविशिष्टस्य वाक्यस्य प्रारम्भे कदाचित् सम्बोधन-पदमपि सम्भवति । अतः भगवता पाणिनिना *पदस्य (8-1-16), पदात् (8-1-17)* इति सूत्रयोरधिकारे तिङन्तपदम् आमन्त्रितपदञ्चोद्दिश्य यानि विशिष्टस्वरविधायकानि सूत्राणि प्रणीतानि, तेषां विनियोगं कृत्वा ऋग्वेदस्य मन्त्राणां परीक्षणं क्रियते । अनेन परीक्षणेन, ऋषिभिर्दृष्टेषु वेदमन्त्रेषु वाक्यस्य पदक्रमम् अनुलक्ष्य आमन्त्रिते पदे, तिङन्ते च पदे कीदृशं स्वरपरिवर्तन् संजायत इत्यवबुद्ध्यते ॥

महर्षिणा पाणिनिना 1. तिङन्त-पदानाम्, 2. आमन्त्रित-संज्ञकानाञ्च पदानाम् पूर्वनिर्धारित-स्वरविशेषाः पादादौ कथं परिवर्तनशीला भवन्तीति सूत्रेषूपनिबद्धम् । तद्यथा – *पदस्य* । (8-1-16), *पदात्* । (17) इत्यधिकारे, *अनुदात्तम् सर्वम् अपादादौ* । (8-1-19)इत्यस्यानुवृत्तिः प्रारभ्यते । तत्र पादादौ यदा कस्यापि तिङन्तस्य प्रयोगो भवेत्, तदा – 1. (क) ''*तिङ् अतिङः* । (8-1-28)'' इत्यनेन सूत्रेण – अतिङन्तात् पदात् परस्य, (अपादादौ स्थितस्य) तिङन्तस्य सर्वमनुदात्तम् भवति इति पाणिनिर्निरीक्षते । अस्य सूत्रस्यापरोऽपि फलितार्थोऽवगम्यते – 1. (ख) यदि तिङन्तं पदं पादादौ (अर्थात् पादारम्भे) समागच्छेत्, तर्हि तत्र तिङन्तस्य पदस्य निघातो न भवति, प्रत्युत पदनिर्माणकाले यः स्वरविशेषः निष्पन्नः स्यात् तस्यैव प्रकृतिस्वरस्य संरक्षणम् भवितुमर्हति ॥ (अत्र चैकमन्यदपि स्पष्टीकरणं यत् काशिकाकारेणोक्तम् तदप्युल्लेखनीयम् अस्ति – *अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ* । (8-1-19) इत्यत्र पादग्रहणेनात्र ऋक्पादः, श्लोकपादश्च गृह्यते ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

(वामन-जयादित्यौ, 1967))

4–1 उदाहरणमुखेनेदं (क) प्रदर्श्यते –

(१)द्वितीयमण्डले गृत्समदस्यार्षं वर्तते । तत्र द्वादशे सूक्त इन्द्रस्य स्तुतिः ।

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते, शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते । *(ऋग्वेदसंहिता 2-12-13)*

अत्र 'नमेते', एवञ्च 'भयन्ते' इत्युभयोः तिङन्तयोः पदयोरवस्थानन्तु अतिङन्तात् पदादेव (अपादादौ) वर्तते । अतः, एतयोर्द्वयोः पदयोः सर्वानुदात्तत्वं भवति । किन्तु यद्यत्र अपादादौ स्थितस्य तिङन्तस्य पदक्रमः पादारम्भे स्थाप्यते (=परिवर्त्यते) तर्हि सर्वानुदात्तत्वं संरक्षितं न स्यात् ॥

(२) तृतीयमण्डले विश्वामित्रस्यार्षं वर्तते । नदी-विश्वामित्रयोः संवादे मन्त्रोऽयं प्राप्यते ।

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहु, रपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।
देवोऽनयत्सविता सुपाणि, स्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥
(ऋग्वेदसंहिता 3-33-6)

अत्र चतुर्षु पादेषु 1. 'अरदद्', 2. 'अहन् ', 3. 'अनयत्', 4. 'यामः' चेति यत् यत् तिङन्तं पदं दृश्यते तत् तत् पदं सर्वानुदात्तत्वेन (पदपाठे) प्रदर्श्यते ॥ यतो हि एतानि सर्वाणि तिङन्तानि पदानि अतिङन्तात् पदात् परमेव समागतानि सन्ति ।

(३) चतुर्थमण्डले वामदेवस्यार्षम् वर्तते । तत्रैन्द्र सूक्तेपि अपादादौ स्थितं तिङन्तं निहन्यते ।

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके । बभ्रू यामेषु शोभेते ॥
(ऋग्वेदसंहिता – 4-32-23)

अत्र 'शोभेते' इति तिङन्तं पदम् अतिङन्तात् पदात् परमेव स्थापितं वर्तते। अतः (पदपाठे) तत्पदं सर्वानुदात्तत्वेन प्रदर्श्यते ॥

4–2 उदाहरणमुखेनेदानीं (ख) पादादौ समागतानां तिङन्तपदानां सर्वानुदात्तत्वं न भवति । प्रत्युत तिङन्तस्य पदस्य पदनिर्माणकाले यः स्वरो निष्पन्न

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

आसीत् तस्यैवानुसरणं भवतीति निरूप्यते ॥

(1) द्वितीयमण्डले गृत्समदस्यार्षम् वर्तते । एकोनविंशतितमे सूक्ते मन्त्रोऽयं पठ्यते ।

अर्चामि ते सुमतिं घोष्यर्वाक् सं ते वावाता जरतामियं गीः ।

(ऋग्वेदसंहिता 4-4-8)

अत्र अर्चामि इत्यत्राद्युदात्तत्वं वर्तते । यतो हि- तिङ्ङतिङः (8-1-28) इत्यनेन पादारम्भे समापतितं तिङन्तं नानुदात्तं भवतीति पाणिनि-र्निर्दिशति । अर्चामीत्यत्राद्युदात्तत्वं कथं सिद्ध्यतीति चेत् — *धातोः* । 6-1-162, *अनुदात्तौ सुप्-पितौ । 3-1-4* इत्येताभ्यां सूत्राभ्याम् आद्युदात्तत्वं सिद्ध्यति । अर्च् + शप् + मिप् = अर्चामि इत्यत्र धातोरन्त उदात्तः, शप्-मिपौ अनुदात्तौ भवतः ॥ मन्त्रस्यास्यान्वयोऽपि द्रष्टव्यः । (हे अग्ने,) ते सुमतिम् अर्चामि, ववाता त्वाम् अच्छा इयम् गीः ते घोषी अर्वाक् जरताम् ॥ अत्र पदक्रमाङ्के, अर्चामीति तिङन्तस्य प्राथम्ये सत्यपि, निघातयुक्तस्य जरतामित्यस्य तिङन्तस्यैव प्राधान्यं स्वीक्रियते ॥

(2) तृतीयमण्डले विश्वामित्रस्यार्षम् । नदी-विश्वामित्रस्य संवादसूक्ते मन्त्रोऽयम् पठ्यते ।

रमध्वं मे वचसे सोम्याय, ऋतावरीरुप मूहुर्तमेवैः ।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥

(ऋग्वेदसंहिता — 3 / 33 / 5)

(अत्रान्वयः-) हे ऋतावरीः (नद्यः), मे सोम्याय वचसे एवैः (शीघ्रगमनेभ्यः) मूहुर्तम् उप रमध्वम् । कुशिकस्य सूनुः (विश्वामित्रः अहम्) बृहती मनीषा (मनीषया) अवस्युः आत्मनः रक्षणम् इच्छन् सिन्धुं (शुतुद्रीम्) अच्छ प्र अह्वे (प्रकर्षेण आह्वयामि)॥ मन्त्रेऽस्मिन् रमध्वम् इति तिङन्तं पदम् पादारम्भे वर्तते । अतः नास्त्यस्मिन् सर्वानुदात्तत्वम् । अत्र प्रथमाक्षरे रेफाकार एवोदात्तस्यावस्थितिर् दृश्यते । यतो हि — *धातोः* (6-1-162) इति पाणिनीयं सूत्रमनुसृत्य (रेफस्य) रकारस्योदात्तत्वम् विधीयते ॥

(3) सप्तम-मण्डले वसिष्ठस्यार्षम् । नवमसूक्तेऽग्निं स्तुवन् वसिष्ठो भणति ।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अबोधि जार उषसामुपस्थाद्धोता मन्द्रः कवितमः पावकः ।
दधाति केतुमुभयस्य जन्तोर्हव्या देवेषु द्रविणं सुकृत्सु ॥

(ऋग्वेदसंहिता 7-9-1)

अत्र उभयत्रापि पादारम्भे तिङन्तमेव दृश्यते । तत्र च सर्वानुदात्तत्वं न भवति, यतो हि *तिङ्अतिङः (8-1-28)* इत्यनेन सूत्रेण अतिङन्तात् पदात् परस्यैवानुदात्तत्वं भवति । अबोधि – दधाति इत्यत्र अतिङन्तात् पदात् परत्वमेव नास्ति । अतः तयोः तिङन्तयोः पदनिर्माणकाले य आद्युदात्तत्वं स्यात् तस्यैवावस्थितिः विद्यते ॥ अत्र मन्त्रस्यान्वयः – होता, मन्द्रः, कवितमः, पावकः, उषसाम् जारः (उषसाम्) उपस्थात् अबोधि । उभयस्य जन्तोः केतुम् दधाति, देवेषु हव्या(नि) दधाति, सुकृत्सु द्रविणं दधाति ॥ अत्रान्येषां तिङन्तानाम् अभावात् मुख्यामुख्य-तिङन्तयोर्विचारणाया अवकाशो नास्ति । अर्थात् वेदमन्त्रेषु मुख्यवाक्यस्य तिङन्तस्य निघात एव भवतीति वक्तुं न पार्यते ॥

4–3 अपादादौ पादादौ च स्थितं तिङन्तम् उद्दिश्य यदा वैदिकवाक्यस्य प्रकारा विविच्यन्ते, तदा पादादौ स्थितस्य आमन्त्रितस्य पदस्याविद्यमानत्वे सति, तृतीयप्रकारस्य वाक्यस्यापि विचारणा करणीयैव भवति । सन्दर्भेऽस्मिन् पाणिनेः सूत्रं निरीक्षणीयम् – *आमन्त्रतं पूर्वम् अविद्यमानवद् (8-1-72)*[9] । (पाणिनिः, 1985) अर्थात् पादारम्भे किमप्यामन्त्रितसंज्ञं पदं समागच्छति, ततश्च यदि तिङन्तं पदं समापतेत् तर्हि कीदृशः स्वरो भवति इत्यस्य जिज्ञासा प्रादुर्भवति ।

(१) उदाहरणमुखेन परीक्ष्यत इदम् ।

अग्ने वीहि हविषा यक्षि देवान्त्स्वध्वरा कृणुहि जातवेदः ॥

(ऋग्वेदसंहिता 7-17-3)

अत्र अग्ने इति आमन्त्रितसंज्ञकात् पदात् परत्वात्, 'वीहि' इति तिङन्तस्य सर्वानुदात्तत्वं न भवति । यतो हि –अग्ने इति आमन्त्रितसंज्ञकस्य पादादव-वस्थितिर्वर्तते । अतः तादृशस्यामन्त्रितपदस्य, *आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवद्* । (8-1-72) इत्यनेन सूत्रेण अविद्यमानत्वं स्वीक्रियते । येन 'वीहि' पदं पादादौ वर्तत इति मन्यते, पादादौ च स्थितस्य तिङन्तस्य निघातो नैव क्रियते । पादादौ

9. अत्रेन्द्रादीनां निघातो न, पूर्वस्याविद्यमानत्वेन पदात् परत्वाभावात् । – सिद्धान्तकौमुदी-वृत्तिः । (दीक्षितः 1929)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

स्थितान् तिङन्तान् वर्जयित्वैव *तिङ् अतिङः* । (8-1-28) इति सूत्रं प्रवर्तत इति पूर्वमेवोक्तम् ।

मन्त्रस्यान्वयः – हे अग्ने, हे जातवेदः, (देवान्) वीहि = अभिगच्छ, देवान् यक्षि = यज च । (देवान्) स्वध्वरान् कृणुहि ॥ अत्राभिगमनानन्तरमेव यजनं भविष्यति, ततश्च देवान् शोभनयज्ञांश्च कर्तुं शक्यते । अर्थात् सर्वानुदात्त-स्वरविशेषाणि तिङन्तपदानि एवात्र मुख्यतिङन्तपदानि सन्तीति प्रतीयते । वाक्यावस्थायां तादृशानां तिङन्तानाम् अन्वयोऽन्त एव करणीयः । अनेन सिद्ध्यति यद् – यस्मिन् मन्त्रे नैकानि तिङन्तपदानि सन्ति तत्र पदक्रमस्य निर्धारणे येषां तिङन्तपदानां सर्वानुदात्तत्वं नैव संजातम्, तेषां क्रमस्तु प्राथम्यं भजते ॥

(२) षष्ठे मण्डले भारद्वाजस्यार्षम् । तत्र चत्वारिंशत्तमस्य सूक्तस्य प्रथम एव मन्त्रेऽस्योदाहरणं प्राप्यते ।

इन्द्र पिब तुभ्यं॑ सुतो मदायाव॑ स्य हरी वि मु॑चा सखा॑या ।
उत प्र गा॑य गण आ निषद्याथा॑ यज्ञाय॑ गृणते वयो॑ धाः ॥

(ऋग्वेदसंहिता 6-40-1)

अत्रापि इन्द्रेति आमन्त्रितसंज्ञकं पदं पादारम्भे विद्यते, अतः पाणिनेः सूत्रानुसारं, पादादौ स्थितस्य तस्याविद्यमानत्वात्, तस्मात् परस्य पिबेति तिङन्तस्य पदस्यापि सर्वानुदात्तत्वं न भवति । एवञ्च यान्यन्यानि तिङन्तानि - अव+स्य, वि+मुञ्च, प्र+गाय, धाः – इत्यादीनि चत्वारि पदानि सर्वाण्यपि निहन्यन्ते । वाक्यार्थम् यदि चिन्त्यते तर्हि – 1. हे इन्द्र, तुभ्यं मदाय सुतो (यः सोमः, तं सोमं त्वं) पिब । इति प्रथमं वाक्यम् । ततश्च क्रमानुसारेण कविनान्यानि वाक्यान्युच्यन्ते –2. सखाया (सखीभूतौ) हरी (अश्वौ) अव स्य (अवस्थापय), तदनन्तरं 3. तौ विमुञ्च । 4. ततश्च (स्तोतृ)गणे निषद्य (उपविश्य) प्र गाय, 5. तदनन्तरं, यज्ञाय गृणते वयः (अन्नं) धाः = देहि ॥ अत्र पादारम्भे स्थितं पिबेति तिङन्तं गौणक्रियावाचकं पदमास्ते, अतः तस्य पदक्रमाङ्के प्राथम्यं मन्यते । अतश्च तत्र सर्वानुदात्तत्वं न समागच्छेदिति हेतोः तस्य पदस्य पादारम्भे उपस्थापना क्रियते ॥

5–0–1 महर्षिणा पाणिनिना वाक्यस्वरविषये सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्षणं कृत्वा, केषाञ्चिन्निपातानां योगेऽपि तिङन्तस्य सर्वानुदात्तत्वं नैव भवति इत्युल्लिखितम् । 8-1-30 इत्यत आरभ्य 8-1-66 पर्यन्तैः सूत्रैरेतेषां निपातानां परिगणनं क्रियते ।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

तद्यथा – यद्-यदि-हन्त-कुवित्-नेत्-चेत्-चण्-कच्चिद्-यत्र-हि-तु-वै-वावादीनां निपातानाम् योगे तिङन्तं सर्वानुदात्तं नैव भवति। एतस्मिन् सन्दर्भे –*यद्वृत्तान्नित्यम्। हि च*। (8-1-66, 67) इति द्वे सूत्रेऽपि पुरस्कृते। एताभ्यां सूत्राभ्यां वेदमन्त्रेषु यद्-युक्ताः, हि-युक्ताश्च ये मन्त्राः सम्प्राप्यन्ते, तेषां तिङन्तानाम् निघाताभावः समुद्घोष्यते।

5–0–2 यद्युक्तेषु मन्त्रेषु वाक्यस्य स्वरूपं कीदृशं प्रतिभाति तत् प्रथमम् परीक्षणीयम् ॥

5–1 ऋग्वेदस्य मन्त्रेषु यद्वृत्तानि यानि वाक्यानि सन्ति, तत्रापि तिङन्तस्य पदस्य सर्वानुदात्तत्वं नैव भवतीति दरीदृश्यत इति पाणिनिर्निर्दिशति। भाषायां यद्-तद् इत्येतयोर्नित्यसम्बन्धो वर्तत इत्युच्यते। यद्- युक्तं वाक्यम् उद्देश्यत्वेन, तद्-युक्तञ्च वाक्यम् प्रतिनिर्देश्यत्वेन गृह्यते। उद्देश्यत्वेन निरूपितं वाक्यं सदैव गौणरूपं भवति, प्रतिनिर्देश्यत्वेन निरूपितं वाक्यमेव प्राधान्यं भजते। अतः वाक्यान्वये साध्ये सति यः पदक्रमो विचार्यते, तत्र उद्देश्यभूतस्य (अर्थात् यद्-युक्तस्य) वाक्यस्य प्राथम्यमेव निर्णीयते[10]। (कुमारिल-भट्टः, 1998) स्वरविधौ च तादृशस्य वाक्यस्य तिङन्तं पदं न निहन्यते।

5–2 अत्रैकमपरं स्पष्टीकरणम् आवश्यकम्। यद्-युक्तं पदं नाम किम्। *यद्वृत्तान्नित्यम्।* इत्यत्र यद् पदेन यद्-सर्वनाम्नः (त्रिषु लिङ्गेषु) सर्वाणि रूपाणि, यत्र, यदा, यदि, (वाक्यसंयोजकं) यद्-पदम् इत्येषां सर्वेषां ग्रहणं भवति। ऋग्वेदस्य मन्त्रेषु यद्-वृत्ताः पादाः बहुविधाः सन्ति। उदाहरणमुखेन तेषां निरीक्षणं क्रियते ॥

(1) सप्तमं मण्डलं वसिष्ठस्यार्षम्। तत्र द्वितीये सूक्ते आप्रीदेवाः स्तूयन्ते।

नराशंसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः ।
ये सुक्रतवः शुचयो धियंधाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥

ऋग्वेदसंहिता 7-2-2

अत्र सायणेन मन्त्रस्य तृतीय-चतुर्थपादयोरेवान्वयः प्रथमतया विहितः।

10.यच्छब्दयोगः प्राथम्यं, सिद्धत्वं चाप्यनूद्यता। तच्छब्दयोगः औत्तर्यं, साध्यत्वं च विधेयता॥ कुमारिलभट्टस्य श्लोकवार्तिकम्।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

तद्यथा – ये सुक्रतवः शुचयः धियंधाः देवाः उभयानि हव्या(नि) स्वदन्ति, (तेषां) एषां यज्ञैः यजतस्य (यजनीयस्य) नराशंसस्य महिमानम् उप स्तोषाम । अस्मिन् मन्त्रे यद् (=ये) इति पदस्य योगात्, स्वदन्ति इति तिङन्तस्य सर्वानुदात्तत्वं न भवति । एवञ्च तद् (= तेषाम् एषाम्) पदस्य योगवत्, उप स्तोषाम इति तिङन्तं पदं सर्वानुदात्तत्वं भजते ।

(2) सप्तमं मण्डलं वसिष्ठस्यार्षम् । तत्रैकोनषष्ठितमं सूक्तम्, मरुद्देवकं सूक्तम् ।

यं त्राय॑ध्व इ॒दमि॑दं देवा॑सो॒ यं च॒ नय॑थ ।
तस्मा॑ अग्ने॒ वरु॑ण मित्रा॒र्य॑मन्मरु॑तः॒ शर्म॑ यच्छत ॥

ऋग्वेदसंहिता 7-59-1

मन्त्रेऽस्मिन् यद्-युक्ते तिङन्ते पदे द्वे स्तः, त्रायध्वे , नयथ इति च । द्वेऽपि ते यद्-युक्तत्वात् सर्वानुदात्ते न स्तः । तयोः पदयोः प्रकृतिस्वररूपेणाद्युदात्तत्वम् संरक्षितं वर्तते । एवञ्च, तद्-युक्तं तिङन्तं – यच्छत – सर्वानुदात्तत्वेनोच्यते । मन्त्रस्यार्थबोधो भवति – हे अग्ने, वरुण, मित्र, अर्यमन्, मरुतश्च देवासः, (यूयं) यं (स्तोतारं) इदम् = अस्मात् (स्थानात्) त्रायध्वे, एवञ्च यं नयथ, तस्मै (स्तोतृभ्यः) शर्म (सुखं) यच्छत ॥ अत्र त्रिषु तिङन्तेषु यच्छत इति तिङन्तं मुख्यक्रियावाचकं प्रतिभाति, तच्च तिङन्तं सर्वानुदात्तत्वेन प्रदर्श्यते । यद्-युक्तेऽन्ये द्वे तिङन्ते गौणक्रियां निरूपयतः, अतस्ते प्रकृतिस्वरयुक्त एवोच्चार्येते ॥

(3) सप्तम-मण्डले वसिष्ठस्यार्षम् । रक्षोघ्न(104)सूक्ते यदि-पदयुक्तं वाक्यं वर्तते ।

अद्या मु॑रीय॒ यदि॑ यातु॒धानो॒ अस्मि॒, यदि॒ वायु॑स्त॒तप॒ पूरु॑षस्य ।
अधा॒ सः वी॒रैर्द॒शभि॒र्वि यू॑या॒ यो मा॒ मोघं॒ यातु॑धा॒नेत्याह॑ ॥

ऋग्वेदसंहिता 7-104-15

मन्त्रस्यान्वय इत्थं क्रियते – यदि (अहं) यातुधानः अस्मि, यदि वा (कस्यचिद्) पुरुषस्य आयुः ततप (हिंसितवान् अस्मि, तर्हि) अद्य (अहं) मुरीय ॥ अध यः मा = माम् (त्वं वसिष्ठः) यातुधान इति मोघम् आह, सः दशभिः वीरैः (पुत्रैः) वि यूयाः (वियुक्तो भवेः) ॥

मन्त्रेऽस्मिन् यदि – इति शब्देन सह प्रयुक्तत्वात् – 1. अस्मि, 2. ततप

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

इति तिङन्तद्वयम्, तथा च यः — इत्यनेन सह संयुक्तं 3. आह इति तिङन्तं पदं सर्वानुदात्तं न भवति। एवञ्च यस्य तिङन्तस्य यदिना संयोगो नास्ति, तादृशं तिङन्तं पदं — 1. मुरीय, तथा 2. वि यूयाः इति सर्वानुदात्तत्वं भजते ॥

(3) सप्तमे मण्डले वसिष्ठस्यार्षम्। तत्र वरुणसूक्तस्योदाहरणम् —

किमाग॑ आस वरुण ज्येष्ठं, यत्स्तोतारं जिघां॑ससि सखा॑यम् ॥

ऋग्वेदसंहिता 7-86-4

अनेन मन्त्रेण वसिष्ठो वरुणं देवं प्रार्थयति — हे वरुण, किम् (मे) ज्येष्ठम् आगः (पापम्) आस ? यत् (त्वम्) (तव) स्तोतारम् सखायम् जिघांससि ॥ अस्मिन् मन्त्रे आस इति तिङन्तं पदं सर्वानुदात्तं वर्तते। किन्तु द्वितीयस्य पादस्यारम्भे यद्–इति वाक्यसंयोजको निपातः तिष्ठति, अतः तस्योत्तरवर्ति जिघांससीति तिङन्तं पदं सर्वानुदात्तं नैव भवति। स्वरविधिम् अनुलक्ष्य यदि विचार्यते तर्हि पूर्वस्मिन् वाक्ये आसेति तिङन्तस्यैव प्राधान्यं वर्तते। यत्–इति निपातेन प्रारब्धे द्वितीये पादे जिघांससि इति तिङन्तं पदं गौणक्रियाम् एव पुरस्करोति। अतः तादृशं तिङन्तं पदम् सर्वानुदात्तम् अस्तीति प्रतीयते ॥

6—0 ऋग्वेदस्य मन्त्ररचनायां प्रवर्तमानानि चतुर्विधानि नियन्त्रणान्यस्माभिरुदाहरणमुखेनावलोकितानि। येषां मन्त्राणाम् आन्तरिकी संरचना 1. नियताक्षरान् छन्दःपादान्, 2. उपान्त्याक्षरे निश्चितं वृत्तम्, 3. पादारम्भ उदात्तयुक्तमेव पदं, 4. एवञ्च पादादावपादादौ च प्रयुक्तानाम् (1)आमन्त्रितसंज्ञकस्य पदस्य, (2) तिङन्तपदस्य च निघाताभावत्वं यद्वा निघातत्वं च परिपाल्य सुग्रथिता स्यात् तस्याः अपौरुषेयत्वमेव भवितुम् अर्हति। एतादृशानाञ्च मन्त्राणां नियतानुपूर्वितापि स्वयमेव (स्वतः एव) सिद्ध्यति ॥

6—1 अत्रैतदपि ज्ञात्वा जरीहृष्यन्त्यस्माकं चेतांसि यद् ऋग्वेदस्य मन्त्रेषु यादृश्यान्तरिकी संरचना दृग्गोचरीभवति, तादृश्येवान्तरिकी संरचना यजुर्वेदस्य अथर्ववेदस्य च मन्त्रेष्वपि विद्योततेतमाम्॥ समयाभावाद् अस्य प्रपञ्च उदाहरणमुखेन नैव क्रियते। किन्तु चतुर्णाम् अपि वेदानां मन्त्रेषु पूर्वोक्तां चतुर्विधनियन्त्रणयुक्ताम् आन्तरिकीं संरचनां दृष्ट्वा, तेषां समेषाम् आविर्भाव अपौरुषेय एव भवितुम् अर्हतीत्यास्माकिनी श्रद्धा सुदृढतामेति ॥

एवमेव, एतदपि ध्यातव्यम् यद् अपौरुषाणां मन्त्राणां नियतानुपूर्विता यदि

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

भाषिकदृष्ट्या संसिद्ध्यति तदा चतुर्णां वेदानाम् आविर्भाव कमपि पौर्वापर्यभावं नैव भजत इत्यपि स्वतः सिद्ध्यति ॥ विषयेऽस्मिन् युरोपिय-विदुषां मतं कथमपि नोपपद्यते ॥ अतोऽस्माभिः सर्वैः संमिल्य पौनःपुन्येनास्यां दिशि यत्नो विधेयः इति शम् ॥

॥ सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ॥

Works Cited

Arther., Macdonell. A. (1993). *Vedic Grammar for students.* Delhi : Motilal Banarasidass.

कुमारिल-भट्टः. (१९९८). *मीमांसा- श्लोकवार्तिकम्* । वाराणसी: तारा पब्लीकेशन्स, १९८२.

दीक्षितः, भट्टोजिः. (१९२९). *वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी (तत्त्वबोधिनी-सहिता), षष्ठावृत्तिः,* मुंबई: निर्णयसागरप्रेस.

पाणिनिः. (१९८५). *अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः* । वाराणसी: चौखम्बा-संस्कृत सिरीझ ऑफिस.

पिङ्गलमुनिः. (१९४७). *छन्दःसूत्रम्* । वाराणसी: चौखम्बासंस्कृतसीरिझ-ऑफिस.

वामन-जयादित्यौ. (१९६७). *काशिका-वृत्तिः (षष्ठो भागः).* वाराणसी: तारापब्लीकेसन्स.

व्रजविहारी, चौबे. (२००४). *वैदिक-स्वर-बोध (द्वितीयावृत्ति).* होशियारपुर: कात्यायनवैदिकसाहित्यप्रकाशन.

शौनक. (१९७०). *ऋग्वेद-प्रातिशाख्यम् (उवटभाष्यसहितम्),* सं. *वीरेन्द्रकुमारवर्मा.* वाराणसी: काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः.

सायणभाष्यसमेता. (१९३६). *ऋग्वेद-संहिता (मं. २ - ५).* पूणे: वैदिकसंशोधनमण्डलम्.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

2

पाणिनीयव्याकरणेऽर्थतत्त्वं सम्भाषणसन्दर्भश्च ।*

भूमिका : केनापि वैयाकरणेन कस्याश्चिदपि भाषाया व्याकरणे विचार्यमाणे, ये ये तन्तवो भाषापट ओतप्रोता दृश्यन्ते, ते सर्वे शृङ्गग्राहिकतया परिगण्यमाने सति, चत्वारो भवन्ति । तद्यथा – 1. ध्वनिः, 2. पदम् 3. वाक्यम् 4. अर्थश्चेति । अत्राप्यन्तिमाद् अर्थतन्तो ऋते, ये ध्वन्यादयस्त्रयस्तन्तवः सन्ति, ते साधनकोटिं समाविशन्ति । अन्तिमश्चार्थरूपस्तन्तुस्तु साध्यकोटिमारोहति । वाग्व्यवहारकाले ये वक्तारो भवन्ति, ते स्वकीये मनसि स्वरव्यञ्जनात्मकैर् ध्वनिभिः पदानि संसाधयन्ति, सुबन्ततिङन्तात्मकैश्च पदैर्वाक्यानि निष्पादयन्ति । ततश्च वाक्यानि संप्रयुज्य श्रोतृभ्यो नैकान्नार्थान् प्रकटीकुर्वन्ति । इत्थं वाग्व्यवहारस्य चरमं परमञ्च लक्ष्यम् अर्थाभिव्यक्तिरेवेति निश्चप्रचम् ॥

अतः पाणिनीयव्याकरणे साध्यरूपस्यार्थस्य किं स्थानम् अस्ति, तेन चार्थतत्त्वेन पाणिनिः कानि कार्याणि साध्नोति, तस्य निरूपणमुदाहरणमुखेन क्रियतेऽत्र । पाणिनिना स्वकीये व्याकरणतन्त्रे सम्भाषणसन्दर्भस्य समुल्लेखः क्रियते न वा तदपि विचारणीयमास्ते ॥

---

* महात्मा गान्धी काशीविद्यापीठस्य संस्कृतविभागेन वाराणस्यां समायोजिता ''अखिल भारतीय संस्कृतवर्ष व्याख्यानमाला'' (24-27 Nov. 2000), तत्र प्रस्तुतमिदं व्याख्यानम् ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

१

आधुनिकैर्भाषावैज्ञानिकैर्विचार्यते यद् भाषायाश्चतुर्थोऽयमर्थरूपो वर्ण्यविषयो विवेचनावसरे दुष्करः प्रतिभाति । यतो हि – भाषाया अर्थतत्त्वे वाच्यार्थेन सह लक्ष्यार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य चानुपदं समावेशोऽनिरुद्धेन प्रजवेन भवत्येव । अत एव च, व्याकरणस्य ये ये चत्वारो वर्ण्यविषयाः (ध्वनिः, पदम्, वाक्यम् अर्थश्चेति) सन्ति, तेभ्योऽर्थं निष्कास्य, ध्वन्यादयस्त्रयो विषया एव विवेचनीया इति केषाञ्चन भाषावैज्ञानिकानां मतिः ।[1] परन्तु पाणिनीयव्याकरणस्य याथार्थ्येन सूक्ष्मेक्षिकया च परीक्षणे क्रियमाणे सति, सूत्रकारोऽर्थतन्तूनपि संग्रथ्नात्येवेति दरीदृश्यते ।

व्याक्रियन्ते पृथक्क्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् इति व्युत्पत्तिस्त्वित्थं कथयति यद् भाषायां वाक्यस्य प्रयोगः प्रथमं भवति, तदनन्तरं तत्र कानि पदानि सन्ति, पदे च का प्रकृतिः, कश्च प्रत्ययः संलग्न इति क्रमशः पृथक्कृत्यान्ततो गत्वा कोऽस्ति प्रत्याय्योऽर्थ इति निरूप्यते । व्याकरणशब्दस्य पूर्वोक्ता व्युत्पत्तिस्तु भाषायाः पृथक्करणाय प्रवृत्तं किमपि तन्त्रजातं व्याकरणपदेनोच्यत इति व्याख्यां विवृणोति । एवमेव तत्रार्थतत्त्वमपि व्याकरणतन्त्राद् निष्पद्यमानम् अन्तिमं (output) सोपानं दृश्यते । परन्तु व्याकरणशब्दस्यैतादृशी व्युत्पत्तिस्तु पाणिनीयतन्त्रस्य कृते नितराम् असमीचीना प्रतिभाति । यतो हि – पाणिनीयतन्त्रेण न किमपि वाक्यं पदं वा पृथक्क्रियतेऽर्थो वा निष्पाद्यतेऽवबोध्यते वा ॥

---

1. The role of and approach to meaning in language is an important and vexatious theme of inquiry. Formerly, many American linguists, in a mood of strong rejection of traditional grammar and influenced by a rather extreme behavioristic position, viewed meaning with suspicion.... some have said **that meaning lies totally outside the linguistic system**, that is a sort of network between cultural systems; some feel that it is to be analyzed as a quite seprate problem; others, that it must be constantly taken into consideration.

See: **American School of Linguistics:** by Eric. P. Hamp; published in **"Linguistics"**, Ed. by Archibald A. Hill, Voice of America Forum Series Washington, Reprinted in 1978, page-280

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अत्र पाणिनीयतन्त्रे तु प्रकृतिः प्रत्ययेन सह संयोज्यते, तत्र च ये ध्वनिविकाराः परमावश्यकाः सन्ति, तेषां विधयो विधीयन्ते । अर्थात् पाणिनेरष्टाध्यायीरूपं यद्व्याकरणमस्ति, तस्य कृते तु "व्याक्रियन्ते निष्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति" व्याकरणमिति व्युत्पत्तिः सर्वथा चरितार्था भवति । अत्रेदमपि ध्यानास्पदं यद् रसनिष्पादकयन्त्रे प्रथमं यथैक इक्षुदण्डः (in-put रूपेण) प्रस्थाप्यते, तदनन्तरं यन्त्रेण निपीड्यमाने दण्डे, ततः इक्षुरसो (out-put रूपेण) बहिर् निष्यन्दति, तथैव पाणिनीयतन्त्रेऽपि प्रथमे सोपान एव विवक्षितार्थस्य स्थापना क्रियते, तदनन्तरं तस्यार्थस्य वाचिका या प्रातिपदिकरूपा धातुरूपा वा प्रकृतिः स्यात्, सा वरणीयाऽस्ति । तस्याः प्रकृतेः पश्चाद् विवक्षितकारककाल-वचनादि रूपस्यार्थजातस्य वाचकः कोऽपि विभक्तिसंज्ञकः प्रत्ययः संस्थाप्यते । ततश्च तयोः सम्मेलनं क्रियते । इत्थं पाणिनेर्व्याकरणं नास्ति पृथक्करणात्मकं, किन्तु संयोजनात्मकमस्ति । एवञ्चात्र पाणिनीयतन्त्रेऽर्थतत्त्वम् इक्षुदण्डस्थानीयम् (in-put रूपम्) अस्ति । तन्त्राद् बहिर्निष्यन्दमानरसस्थानीयञ्च वाक्यम् (out-put रूपम्) अस्ति । अर्थात् भगवता पाणिनिना संस्कृतभाषाया व्याकरणनिरूपणावसरेऽ-र्थस्योपेक्षाऽवहेलना वा नैव कृता । प्रत्युत, तन्त्रेऽस्मिन् विवक्षितार्थस्यावधारणा तु प्रथमे सोपान एवास्माभिः करणीयेति निर्विवादम् ।

२

पाणिनेरष्टाध्याय्यां यद् व्याकरणं विलसति तद् आधुनिके भाषाविज्ञाने "वर्णनात्मकं शब्दनिष्पादकञ्च व्याकरणम्" (Descriptive and Generative grammar) इति नाम्नोच्यते ॥ अत्र शब्दनिष्पादकतन्त्रात्मकस्य पाणिनीय-व्याकरणस्यारम्भबिन्दावेव विवक्षितार्थस्य सङ्कल्पना निश्चीयते निवेद्यते वा । तदनन्तरं तस्यार्थस्य तद्वाचकध्वनिसङ्केते परिवर्तनं भवति । ततश्च क्रमशः पदसिद्ध्या समं वाक्यसिद्धिरपि भवति । उदाहरणमुखेन यद्यस्य प्रदर्शनं क्रियते तर्हि - "राम लकडी से चावल पकाता है" इत्यस्ति मे विवक्षितार्थसमूहः । अत्र वर्तमानकालिकं विक्लित्यनुकुलात्मकं पाकक्रियारूपम् अर्थजातं रूढितः सङ्केतितायां ध्वनिश्रेण्यां प्रकटीकरणाय पाणिनिना स्वक्रीये धातुपाठेऽर्थपुरस्सरं यद् धातुपारायणं क्रियते, तद्यथा - भू सत्तायाम् इत्यादि, ततः डुपचष् पाके, (भ्वादिगणः 7,18, स्वरितेत् धातुरित्यस्य चयनं क्रियते । एवमेव वर्तमाने लट् (3-2-123) इति सूत्रमपि यद् प्रणीयते, तेन वर्तमानकालरूपस्यार्थस्य द्योतनाय-

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

वचनाय- वा लड् इति शास्त्रीयः सङ्केतः स्वीक्रियते ।

अत्र धातुपाठेऽष्टाध्यायीसूत्रे च सप्तम्यन्ते पदेऽर्थनिर्देशो विधीयते । तद्यथा-डुपचष् पाके, वर्तमाने लडिति च । एवं पचतीति तिङन्तपदसिद्धौ प्रथमे सोपान एव (in-put रूपेण) विवक्षितार्थस्य सङ्कल्पना स्थाप्यते, तदनन्तरं 'डुपचष्' रूपा धातुप्रकृतिः 'लड्' इति प्रत्ययश्चोद्भाव्य तयोः संयोजनं प्रारभ्यते। एवमेवाष्टाध्याय्यां कारकप्रकरणेऽ (1-4-23) पि यदर्थरूपं तत्त्वं वक्तृश्रोत्रोः मनसि विलसति, तस्य किमपि पारिभाषिकं व्याकरणिकं नाम (कारकसंज्ञा) प्रदीयते । तद्यथा ''साधकतमं करणम् । ध्रुवमपायेऽपादानम्'' इत्यादीनि कारकसंज्ञाविधायकानि सूत्राणि । अत्र 'साधकतमं', यद्वा 'अपाये यद् ध्रुवम्' (अवधिभूतं कारकं) इत्यादि अर्थतत्त्वम् अस्ति । करणम्, अपादानम् इत्यादयश्च कारकसंज्ञाः । तदनन्तरं विभक्तिपादे (2-3-1 तः 2-3-73) कर्मकरणापादानादिरूपस्यार्थस्य प्रकटीकरणाय याः द्वितीयादयः विभक्तयः प्रभवन्ति तद्यथा - कर्मणि द्वितीया (2-3-2) कर्तृकरणयोस्तृतीया (2-3-18), अपादाने पञ्चमी (2-3-28) इत्यादिषु सूत्रेषु तासाम् उद्घोषणा श्रूयते ।

अत्र विविधेषु विधिसूत्रेषु यानि सप्तम्यन्तानि पदानि श्रूयन्ते, तानि विविच्यन्ते । एकतः सन्ति - इको यणचि (6-1-77), झरो झरि सवर्णे (8-4-65), शरछोऽटि (8-4-63), आमि सर्वनाम्नः सुट् (7-1-52), घेर्ङिति (7-3-111), सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (7-2-1) इत्यादीनि सूत्राणि । **अपरतश्च सन्ति** - क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे (6-1-81), आङो नाऽस्त्रियाम् (7-3-120) प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा । (2-3-46), चार्थे द्वन्द्वः (2-2-29), जनपदे लुप् (4-2-81), परोक्षे लिट् (3-2-115), लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ (3-3-139) इत्यादीनि सूत्राणि ॥

एकतो यानि 'इको यणचि' इत्यादीनि सूत्राणि सन्ति, तेषु निमित्तसप्तमी प्रयुक्ताऽऽस्ते । अर्थात् औपश्लेषिकसप्तमी सा वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य कार्यबोधिका भवति । परन्त्वपरतश्च क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे (6-1-81), चार्थे द्वन्द्वः (2-2-29), यद्वा 'परोक्षे लिट्' (3-2-115) इत्यत्र यानि सप्तम्यन्तानि पदानि प्रयुक्तानि दृश्यन्ते, तत्र तु वैषयिकी सप्तमी ग्रहीतव्या । अर्थात् तादृशी सप्तमी तु प्रथमे सोपाने विवक्षितस्यार्थस्योद्घोषणाय प्रयुज्यते । शब्दान्तरेणोच्यते तर्हि - पाणिनिना पदसिद्धौ वाक्यसिद्धौ वा रूपसिद्धेः प्रक्रियाया आरम्भबिन्दावेव

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

विवक्षितार्थस्य स्थापना क्रियते । तद्यथा-अमुकेऽर्थे वाच्ये सति लिट्लकारः प्रयोक्तव्यः, लृङ्लकारो वा । एवमेव ' भवतु' इत्यत्राशिषि वाच्ये सति, 'तु' इत्यस्य स्थाने तातङ्ङादेशो विधीयते । अस्य विमर्शस्यायमेवाशयो यद् भगवान् पाणिनिः स्वकीये व्याकरणे संस्कृतभाषाया वर्णनावसरेऽर्थतत्त्वस्योपेक्षां नैव करोति, प्रत्युत विवक्षितार्थस्य स्थापनां रूपसाधनिकायाः प्रथमे सोपाने कृत्वा, तदनन्तरमेव ध्वनिविकारान् वर्णयति, प्रकृतिप्रत्यययोः सम्मेलनञ्चादिशति ।

३

पाणिनीयव्याकरणस्यार्थतत्त्वस्य न केवलम् आरम्भबिन्दावेव स्थानं दृश्यते, कुत्रचित् पाणिनिः तस्यार्थतत्त्वस्य निमित्तांशे निर्देशं कृत्वाऽर्थभेदेन रूपभेदं, वैकल्पिकं रूपं वा जनयति । तद्यथा - (1) तस्माच्छसो नः पुंसि (6-1-103) इत्यत्र पुंस्त्वरूपो लिङ्गविशेषार्थो निमित्तदले विलसति, येन च रामान् - कवीन् - इत्यादीनि रूपाणि भवन्ति । पुंस्त्वाभावे च मतीः नदीः इत्यादीनि रूपाणि भवन्ति । अत्र पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सकारस्तस्य नः न स्यात् यतो हि मति-नदीत्यादिषु प्रातिपदिकेषु नास्त्यत्र पुंस्त्वम् ।

(2) द्वितीयमुदाहरणम् - 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (2-3-5) इत्यनेन सूत्रेणात्यन्तसंयोगे वाच्ये सति द्वितीया विधीयते कालवाचकाच्छब्दाद् अध्ववाचकाच्छब्दादपि । यथा-द्वादशवर्षाणि व्याकरणमधीतम् । परन्तु 'अपवर्गे तृतीया' (2-3-6) इत्यनेन सूत्रकारः कथयति यद् अपवर्गशब्देन फलप्राप्तिरुच्यते, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । येन च द्वादशवर्षैर्व्याकरणम-धीतम् इति विभक्तिभेदो भवति । अर्थात् 'द्वादशवर्षाणि' - 'द्वादशवर्षैश्च इत्यत्रार्थभेदेन रूपभेदः प्रादुर्भवति ।

(3) तृतीयमुदाहरणम् - अचोऽन्त्यादि टि (1-1-64) इत्यत्र * शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् * इति वार्तिकवचनं वर्तते । येन शकन्धुः - कर्कन्धुः कुलटा - इत्यादयः शब्दाः साध्यन्ते । परन्तु तत्र * सीमन्तः केशवेशे * इत्यनेन वार्तिकेन सीमन्तः - सीमान्तश्च इत्युभावपि शब्दौ विभिन्नार्थौ विलसतः इत्युक्तम् । एवं पाणिनीयव्याकरणे कुत्रचिद् अर्थभेदं निमित्तीकृत्य रूपभेदः प्रसाध्यते ।

४

अस्मिन् व्याकरणशास्त्रे पाणिनिना न केवलम् अनुपेक्षणीयम्

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अर्थतत्त्वमुररीकृत्य वाक्यसिद्धिः प्रदर्शिता, किन्त्वर्थतत्त्वेन सह सम्भाषण-सन्दर्भस्यापि भाषाप्रयोगे कीदृशः प्रभावः स्यात्तदपि सूक्ष्मेक्षिकया वर्णितम्। अत इदानी वाग्- व्यवहारकालेऽर्थतत्त्वादतिरिच्यमानः सम्भाषणसन्दर्भः कथं पाणिनीयसूत्रेषु निरूप्यते तदुदाहरणमुखेन प्रदर्श्यते ॥

(1) नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य (8-4-48) इत्ययेन पुत्रशब्दस्य न द्वे स्त आदिनीशब्दे परे, आक्रोशे गम्यमाने। तद्यथा - "पुत्रादिनी त्वमसि पापे"। अत्र पुत्रवधूम् उद्दिश्य काऽपि श्वश्रूः कथयति इति लौकिको वाग्व्यवहारः सुविदितमेव। किन्तु यदा तत्त्वकथनं भवति तदा तत्र पुत्रशब्दस्य यरः द्वित्वं भवत्येव - यथा "पुत्त्रादिनी सर्पिणी"। अत्र लोके यः सम्भाषणसन्दर्भः पाणिनिनाऽवलोकितः, तमधिकृत्य रूपभेदस्य समुल्लेखः सूत्रबद्धः क्रियते ॥

(2) युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः (1-4-105) इत्ययेन सूत्रेण तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि उपपदे प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः पुरुषः स्यादित्युक्त्वा, तदनन्तरमेव पाणिनिना "प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च।" (1-4-106) इत्यपि भणितम्। सूत्रेणानेन, महर्षिः पाणिनिर्लोके प्रहासरूपं सम्भाषणसन्दर्भं लक्ष्यीकृत्य तिङ्प्रत्ययस्य युष्मदादि-वाच्यपुरुषस्याऽसामानाधिकरण्यं वर्णयति। तद्यथा - "त्वं (युवां यूयं वा) मन्ये, अहं रथेन यास्यसि" इति। अत्र वक्तुर्विवक्षितार्थः परिहासपूर्णोऽस्ति, येन 'त्वम्' इति युष्मद्वाच्यपुरुषेण सह मन्यतेरुत्तमपुरुषस्य प्रयोगो भवितुमर्हति, 'अहम्' इति अस्मद्वाच्यपुरुषेण सह 'या' इति धातोः पश्चात् मध्यमपुरुषस्य प्रत्ययस्य योगो भवति। इदानीं 'त्वं मन्येऽ हं रथेन यास्यसि' इत्यस्य वाक्यस्य योऽर्थः प्रतिभाति यत् "त्वं यद्यपि मन्यसे यदहं रथेन यास्यामि, किन्तु वस्तुतस्तु मदीयो रथो दग्धः। अतः कथं त्वं रथेन यास्यसि? इति परिहासः ॥ अत्र पाणिनिना सम्भाषणसन्दर्भानुसारं विपरीता वाक्यनिष्पत्तिरपि स्वकीये व्याकरणे कथं व्युत्पादनीयेति वर्णितम् ॥

(3) परोक्षे लिट् (3-2-115) इत्यनेन भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् स्याद् इत्युक्त्वा, भगवता पाणिनिना परोक्षकालरूपमर्थम् प्रकटीकर्तुम् लिट्लकारस्य विधानं समुपदिष्टम्। किन्तु तत्र कात्यायनेन * परोक्षे लिड् अत्यन्तापह्नवे च * इति वार्तिकं प्रस्तावितम्। येन च वाग्व्यवहारकाले यदि कश्चिद् वक्ता श्रोतुः कामपि वार्तां निषेद्धुम् अभिलषति तर्ह्यपि लिट्लकारस्यैव प्रयोगं करोति।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

तद्यथा – ''नाहं कलिङ्गान् जगाम'' इति प्रदर्शयति ।

(4) क्षेपे, गर्हायाम्, भूषणे, संज्ञायाम्, आक्रोशे इत्यादिभिर्बहुभिः शब्दैः पाणिनिः सम्भाषणसन्दर्भान् सूत्रबद्धान् कुरुत एव । एवमेव, वार्तिककारो तं मुनिमनुसृत्य वाग्व्यवहारकाले दृश्यमानान् नूतनाविर्भूतान् सम्भाषणसन्दर्भान्नपि बहुशः परिगणयति भिन्नेषु वार्तिकेषु । तद्यथा – अभूततद्भावे च्विः । अभ्यर्हितञ्च (पूर्वम्) इत्यादीनि वार्तिकानि ॥

इत्थं पाणिनीयव्याकरणं यदि वर्णनात्मकं शब्दनिष्पादकञ्च तन्त्रं स्यात् तर्हि तदपि विदुषां दृष्टिपथगामि भवितुमर्हति यद् पाणिनिनाऽर्थतत्त्वस्य स्वकीये तन्त्रे समावेशः कृत एव । तथा वाक्यसिद्धेरारम्भबिन्दावेव विवक्षितार्थस्य सङ्कल्पना प्रस्थापिता दृश्यते । तदनन्तरमेव प्रकृतिप्रत्यययोः सम्मेलनमुपदिश्यते । एवमेव – यदीदं वर्णनात्मकं व्याकरणं स्यात् तर्हि तत्र लोके प्रचलितो यः कश्चित् सम्भाषणसन्दर्भः स्यात् तदपि सूत्रे सङ्ग्रथनामर्हति । पाणिनिनोभयविधस्यापि व्याकरणस्येति कर्तव्यता सुचारुरूपेण परिपालितेति सप्रमाणं वक्तुं पार्यते ॥

—x—

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

3

पाणिनीयसूत्रयोर्हेतुपदस्यार्थः

पीठिका -

महर्षेः पाणिनेरष्टाध्याय्यां हेतुरिति शब्दस्य द्विविधः प्रयोगो दृश्यते । तद्यथा - 1. शास्त्रीयो हेतुः, 2. लौकिकश्च हेतुरिति । तत्प्रयोजको हेतुश्च । 1-4-55 इत्यनेन सूत्रेण शास्त्रीयो हेतुः निर्दिष्टः । सूत्रेणानेन प्रयोजककर्तुः हेतुरिति पारिभाषिकं नाम विहितम् । एवञ्च, हेतौ - 2-3-23 इत्यत्र लौकिकहेतोर्निर्देशो वर्तते । इदं हेतुरिति पदं 2-3-24 एवं 25 इत्येतयोः सूत्रयोरनुवर्तते ।[1] अस्य हेतुरिति पदस्य कोऽर्थः, अनुवृत्तौ च तस्यार्थस्य परिवर्तनं भवति न वेत्यत्र विचार्यते ।

अपदेशः, लिङ्गं, प्रमाणं, करणं, निमित्तं, प्रकृतिः, कारणम् उपादानञ्चेत्यादि-विभिन्ना अर्थच्छायाः प्रदर्शयितुं नैकेषु शास्त्रेषु हेतुरिति शब्दः प्रयुज्यते ।[2] अतः

---

1. हेतौ । पा. सू.0, 2.3.23
   अकर्तर्यृणे पञ्चमी । 2.3.24
   विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् । 2.3.25 ।
2. (क) हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ।
   - वैशेषिकसूत्रम् । (IX-24)

   (ख) साङ्ख्यकारिकायाञ्च ''हेतुमदनित्यम्0,का-10 इत्यत्र —

   (1) उपादानं, हेतुः, कारणं, निमित्तमिति पर्य्यायाः । - गौडपादभाष्यम्
(2) हेतुरपदेशो निमित्तं प्रकृतिः कारणमित्य(न)र्थान्तरम् । - सांख्यसप्ततिवृत्ति V_1 ॥
(3) हेतुरपदेशो लिङ्गं निमित्तं कारणमिति पर्य्यायाः सांख्यसप्ततिवृत्तिः V_2 ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

विचारणीयमिदं वर्तते यत् पाणिनिना मनसि कामर्थच्छायां निधाय हेतुरिति पदमत्र (2-3-23 एवं 2-3-25) प्रयुक्तम् ।

करणमित्यर्थच्छायामपि प्रकटीकर्तुं हेतुरिति शब्दस्य प्रयोगः भवतीति वैशेषिकसूत्रादिषूक्तम् । किन्तु पाणिनिना साधकतमं करणम्, 1-4-42 इति सूत्रेण करणस्य पृथङ् निर्देशः कृतः । अतः हेतौ, 2-3-23 इत्यत्र हेतुरिति शब्देन करणस्यार्थः नैव ग्रहीतव्य[3] इत्येतत् सुविदितम् । कारकम् (1-4-23), हेतुः (2-3-23) एवं लक्षणम् (1-4-84) इत्यत्र को भेद इति स्पष्टीकुर्वन् तत्रभवान् हेलाराजो व्याचष्टे यद् अष्टाध्याय्याम् पाणिनिना '....निमित्तसामान्यं त्रिधा विभक्तम् । स्वरूपभेदेन क्रियानिर्वर्तकं कारकम् सामान्येन जनको हेतुः, ज्ञापके लक्षणम्' (वाक्यपदीयम्, काण्ड-3, पृ.0 255) इत्थं हेतुतः करणमत्यन्तं भिन्नमेव । अतः हेतुरित्यस्य शब्दस्य 2-3-23 एवं 25 इत्यत्र कोऽर्थः, तदिदानीं विचार्यते ।

हेतौ । २-३-२३ इत्यत्र हेतुरिति पदस्यार्थः-

हेतौ । 2-3-23 इत्यत्र भाष्यकारेण हेतुरिति शब्दस्य व्याख्यानं नैव कृतम् । अतः पतञ्जलेर्मतानुसारमत्र हेतुरिति शब्दस्य कोऽर्थः, तद्भाष्याज् ज्ञातुं न शक्यते । भर्तृहरिरिमं विषयमित्थं विवृणोति -

अनाश्रिते तु व्यापारे निमित्ते हेतुरुच्यते ।
द्रव्यादिविषयो हेतुः, कारकं नियतक्रियम् ॥
(वाक्यपदीयम् 3-7-24 अ, 25 अ)

अस्यायमाशयः -

द्रव्य-गुणक्रियाणामुत्पत्तौ यन्निमित्तं तद् हेतुरित्युच्यते । (करण) कारकन्तु

---

3. हेतुः करणादनेकधा व्यतिरिच्यते इति प्रतिपादयितुं भर्तृहरिणा वाक्यपदीये भणितं यत् -

अनाश्रिते तु व्यापारे निमित्तं हेतुरिष्यते ।
द्रव्यादिविषयो हेतुः, कारकं नियतक्रियम् ॥
— वाक्यपदीयम् 3-7-24अ, 25अ

क्रियायै करणं, तस्य दृष्टः प्रतिनिधिस्तथा ।
हेत्वर्था तु क्रिया, तस्मान्न स प्रतिनिधीयते ॥
— वाक्यपदीयम् 3-7-26

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

सव्यापारं भवति, किन्तु द्रव्यादीनामुत्पत्तौ यन्निमित्तं भवति तत्र व्यापारस्याभावः वर्तते । एतादृशमेव निमित्तं हेतुरिति वक्तुं पार्यते ।

तद्यथा -1. दण्डेन घटः (इत्यत्र घटरूपद्रव्यस्योत्पत्तौ दण्डः[४] निमित्तकारणम्) 2. पुण्येन गौरवर्णः । (इत्यत्र गौरवर्णरूपगुणस्योत्पत्तौ पुण्यं निमित्तकारणं=हेतुः), 3. पुण्येन दृष्ट हरिः । (इत्यत्र हरिदर्शनरूपक्रियाया उत्पत्तौ पुण्यं निमित्तमस्ति) ।

काशिकाकारेण पा.सू. 2.3.23 इत्यस्य सूत्रस्य हेतुपदम् इत्थं व्याख्यातम् - फलसाधनयोग्यः पदार्थो लोके हेतुरुच्यते । (पृ. 180) वृत्तिमिमां स्फुटीकर्तुं न्यासकारो लिखति यत् - फलसाधनयोग्य इत्यादि । अनिष्पादयन्नपि फलं तत्साधनयोग्यः पदार्थो लोके हेतुरित्युच्यत इति योग्यग्रहणम् । धनेन कुलमित्यादौ कुलादीन्यकुर्वन्त्यपि धनादीनि तत्करणयोग्यतया लोके हेतुव्यपदेशमासादयन्तीति तेभ्यस्तृतीया ॥ (पृ. 181) हरदत्तश्च पदमञ्जर्य्यां लिखति यत् - लोके हि अङ्कुरादिकार्योत्पादने योग्यतामात्रप्रयुक्तोऽनाश्रितव्यापारो द्रव्यगुणक्रियाविषयो बीजादिर्हेतुः । ....उदाहरणेषु क्रियायाः अभावात् करणत्वमनाशङ्नीयम् इति । (पृ. 180, 181)

भट्टोजिदीक्षितेनापि भर्तृहरिमनुसृत्य, सिद्धान्तकौमुद्यां निरूपितं यद्द्रव्यादि-साधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम् । करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च ॥ (पृ. 811)

इत्थं सर्वैः टीकाकृद्भिः हेतौ 2. 3. 23 इत्यत्र हेतुशब्दस्य उत्पादको हेतुः इत्यर्थो गृहीतः । अयमेव चोत्पादकहेतुरूपोऽर्थः ग्रहीतव्य इति तेषां विवरणैश्चोदा-हरणैश्च ज्ञायते । अयञ्चार्थो भर्तृहरेर्वाक्यपदीयादारभ्य प्रचलितप्राय इत्यपि प्रतीयते ।

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् । २.३.२५ इत्यत्रानुवृतस्य हेताविति पदस्यार्थः –

हेतौ । 2.3.23 इत्यस्मात्सूत्रात् (तृतीयेति पदेन सह) हेताविति पदस्यानुवृत्तिः प्रवर्तते । ततश्च 2. 3. 24, 25 इत्येतयोः सूत्रयोः हेताविति पदं संयोज्य तयोः

---

4. क्रियासाधकतमं यद् व्यापारवत्वेन विवक्षितं चेत् करणम्, नो चेत् हेतुः । द्रव्यसाधकतमस्य दण्डादेस्तु व्यापारवत्त्वेऽपि हेतुत्वमेव ॥ - इति अस्मद्गुरुचरणाः श्रीबालकृष्णपञ्चोलिनः । (द्रष्टव्यम्-लक्ष्मीटीकासमेतायाः सिद्धान्तकौमुद्याः भाग-2, पृ.12)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

सूत्रयोः कस्कोऽर्थो भवतीति तावद् विचारणीयम् ॥

अकर्तर्यृणे पञ्चमी । 2.3.24 इत्यस्माच्च सूत्रात् पञ्चमीति पदस्यानुवृत्तिः प्रवर्तते । अतः, 2. 3. 25 इत्यत्र हेताविति पदस्यानुवृत्या सह पञ्चमीति पदस्याप्यनुवृत्तिं स्वीकृत्य विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् । 2.3.25 इति सूत्रस्यार्थो विचारणीयः । तद्यथा-विभाषा (तृतीया) (पञ्चमी), (हेतौ) गुणेऽस्त्रियाम् इति । अस्य सूत्रस्यायमर्थः - "स्त्रीलिङ्गे यः न वर्तते तादृशो गुणवाचकः शब्दः यदि हेतुवाचकः भवेत्, तस्मात् तृतीयापञ्चम्यौ वा भवतः" इति । अस्य सूत्रस्योदा-हरणरूपेण काशिकाकारेण (1) जाड्याद् बद्धः - जाड्येन बद्धः । (2) पाण्डित्यान्मुक्तः-पाण्डित्येन मुक्तः, इति वाक्यद्वयम् प्रदत्तम् । अस्मिन्नुदाहरणे बन्धनक्रियायां हेतुभूतं जाड्यमस्ति । जाड्यमिति हेतुवाचकः शब्दः गुणवाचकोऽप्यस्ति एवञ्च स्त्रीलिङ्गेऽपि नैव वर्तते । तथैव च, मुक्तिक्रियायां पाण्डित्यमस्ति हेतुभूतम् । पाण्डित्यमिति हेतुवाचकः शब्दः स्त्रियामपि नास्ति, अथ च सः गुणवाचकोऽप्यस्ति । अतस्ताभ्यां - जाड्येति पाण्डित्येति एताभ्याम् - तृतीया च पञ्चमी च प्रवर्तेते ।

किन्तु लोके 'पर्वतो वह्निमान् धूमात् ।' 'नास्ति घटोऽनुपलब्धेः ।' इत्यादीन्युदाहरणान्यपि प्रचलितानि दृश्यन्ते । तेषु सर्वेषु यो हेतुभूतः पदार्थः (धूमः) वर्तते, सः गुणवाचकोऽस्तीति वक्तुं कथं पार्यते । एवञ्च 'अनुपलब्धिः' इति हेतुवाचकः शब्दः स्त्रियां वर्तते, तस्मात्परं पञ्चमी विभक्तिः कथं प्रवर्तेतेत्याशङ्क्यते । (पर्वतो वह्निमान् धूमादिति) एतादृशानामुदाहरणानां संगतिः साधुत्वं वा कथंकारं भविष्यतीति काशिकाकारेण नैव चिन्तितम् । किन्तु न्यासकारेण लिखितं यत् - गुणशब्देन चात्र सम्बन्धिमात्रं परार्थरूपापन्नमुच्यते, तेन अग्निरत्र धूमादित्याद्यपि सिद्धं भवति । ननु चास्त्रियामित्युच्यते, तेन नास्तीह घटोऽनुपलब्धेरित्यादि न सिध्यति ? नैतदस्ति, विभाषा गुणे इति योगविभागः कर्तव्यः । तेन यत्रेष्यते तत्र योगविभागादिष्टसिद्धिरिति स्त्रियामपि भवत्येव (182); इत्थं न्यासकारेण गुणस्य लक्षणं[5] परिवर्त्य धूमाद् इत्यत्र पञ्चम्याः साधुत्वबोधनं कृतम् । तथा च विभाषा गुणे इति योगं विभज्य अनुपलब्धेरिति

---

5. कणादमुनिना गुणस्य लक्षणमित्थं प्रदर्शितम्-द्रव्याश्रयी अगुणवान् संयोगविभागेषु अकारणम् अनपेक्षः इति ॥ वै० सू० 1-1-16 ।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

(स्त्रियामपि) पञ्चम्याः साधुत्वञ्च प्रतिपादितम् ।

भट्टोजिदीक्षितेन गुणस्य लक्षणं न प्रदर्शितम्, न वा परिवर्तितम् । किन्तु विभाषा (2. 3. 25 A) इति, गुणेऽस्त्रियाम् (2. 3.25 B) इति योगं विभज्य यः गुणवाचको न भवति, यश्च स्त्रीलिङ्गे वर्तते । तादृशेभ्यः हेतुवाचकशब्देभ्यः परं याः पञ्चमीविभक्तयः प्रवर्तन्ते, तासां सर्वासां साधुत्वम् उद्घोषितम् ।

न्यासकार-भट्टोजिदीक्षितप्रभृतिटीकाकाराणां कृते, धूमाद्, अनुपलब्धेः इत्यादिषु प्रयोगेषु पञ्चमीप्रयोगस्य साधुत्वबोधनाय, विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् (2. 3.25) इत्यस्य सूत्रस्य गुणे इति च, अस्त्रियाम् इति च पदद्वयेन प्रदर्शिते द्वे आवश्यकते निवर्तयितुं योगविभागः परमावश्यकः सञ्जातः । एवञ्च अस्य योगविभागस्य साहाय्येनैव (योगविभागादिष्टसिद्धिरिति परिभाषया[६] च) धूमाद्, अनुपलब्धेः इत्यादयः लोकप्रचलिताः प्रयोगाः पाणिनेरपि सम्मताः सन्तीति प्रतिपादितम् ॥

अत्र यन्मुख्यं विचारणीयमस्ति तदित्थं प्रतिभाति - 2-3-23 इत्यस्मात्सूत्रात् हेताविति पदं यदा 2-3-25 इत्यत्रानुवर्तते तथा हेतुरिति शब्दस्यार्थः किं पूर्वापरसन्दर्भेषु (विशेषतः 23 एवं 25 उभयत्र) एकरूपो वर्तते, आहोस्विन्नैकरूपः ? प्रश्नोऽयं शब्दान्तरैर्यद्यनुद्येत तर्हि हेतौ 2-3-23 इत्यत्र हेतुरिति शब्दस्य प्रयोगः 'उत्पादको हेतुः' इत्यर्थच्छायां व्यनक्ति । किन्तु तदेव हेताविति पदं यदा 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' 2-3-25 इत्यत्रानुवर्तते तदा तस्य हेताविति पदस्य काऽर्थच्छाया स्वीकरणीया । तर्ह्युच्यते - ''विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् 2-3-25 इत्यत्रानुवर्तमानस्य हेतुरिति पदस्य 'ज्ञापकहेतुः' इत्यर्थच्छाया-ऽनिवार्यरूपेण स्वीकरणीया । अन्यथा 'धूमाद्', अनुपलब्धेः' इत्यादयः शब्दाः 'हेतुवाचकाः' सन्ति इति कथं वक्तुं पार्येत ? (अत्र हेतुरिति- शब्दस्यार्थस्तु 'लिङ्गम्', 'ज्ञापकम्' इत्येव कर्तव्य इति प्रतिभाति ।[७] इत्थं हेतौ 2-3-23 इत्यत्र 'उत्पादकहेतुः' इत्यर्थच्छायां मनसि

---

6. विभाषा । 2-3-25 (A) इति योगविभागसाधितेन सूत्रेण 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्', 'नास्ति घटोऽनुपलब्धेः इत्यत्र पञ्चमी एव प्रवर्तते; धूमेन, अनुपलब्ध्या इति तृतीया नैव प्रयुज्यते ॥

7. केचित्त्वपादानपञ्चमीमेतामिच्छन्ति, तथा च 'नास्तीह घटोऽनुपलब्धितः' इति 'अपादाने चाहीयरुहोः' इति तसिलपि भवति, योगविभागवादिनां त्वाधादित्वात्तसिः । - (न्यासपदमञ्जरीसहिता काशिकावृत्तिः पृ. 182 इत्यत्र) हरदत्तः ।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

निधाय हेतुरिति शब्दः प्रयुक्त आसीत् । किन्तु स एव शब्दः यदा विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् 2-3-25 इति सूत्रेऽनुवर्तते तदा 'ज्ञापकहेतुः' इत्यर्थच्छायां व्यनक्ति इति, एकेनापि टीकाकारेण वृत्तिकारेण वा नैवोक्तम् । अथोपसंह्रियते -

हेतुः

उत्पादकहेतुः | ज्ञापकहेतुः

उत्पादकहेतुः		ज्ञापकहेतुः
निमित्तहेतु (= कारणहेतुः) (द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापार-साधारणञ्च हेतुत्वम्)	करणकारकरूपः हेतुः (यश्च क्रियासाधकतमः सव्यापारश्च भवति)	(= लिङ्गम्, प्रमाणम्)
↓	↓	↓
1. दण्डेन घटः । बीजेनाङ्कुरः (द्रव्यम्) 2. विद्यया यशः । क्रोधेन रक्तः । धनेन कुलम् । (गुणः) 3. कन्यया शोकः । पुण्येन दृष्टः हरिः । (क्रिया)	1. रामः बाणेन हन्ति । 1-4-42	1. पर्वतो वह्निमान् धूमात् । 2. नास्ति घटोऽनुपलब्धेः ।
↑	↑	↑
अत्र निमित्तहेतुवाचका-च्छब्दात्तृतीयैव भवति ।	करणकारकादपि तृतीयैव भवति	यज्ज्ञापकं लिङ्गं प्रमाणं वा भवति तस्मात् पञ्चमी एव विधीयते ।

अथ जाड्येन जाड्याद्वा बद्धः इत्येतादृश उदाहरणे तु जाड्यमिति गुणः बन्धनक्रियाया उत्पत्तौ निमित्तकारणं प्रतिभाति, अतः तस्मात् (जाड्येति शब्दात्) तृतीया विभक्तिः विधीयते - जाड्येन बद्धः इति । किन्तु यदि उत्पाकहेतुः

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

(जाड्यम्) गुणवाचकोऽपि स्याद् एवञ्च स्त्रीलिङ्गे नैव वर्तते, तर्हि पञ्चमी अपि विधीयते – जाड्याद् बद्धः इति । अत्र 'जाड्याद्' इति हेतुः ज्ञापकरूपो हेतुः भवितुं नार्हति इति सविशेषमवगन्तव्यं विद्वद्भिः। (एवञ्च जाड्याद् बद्धः, पाण्डित्यान्मुक्तः इति प्रयोगस्तु कादाचित्कः एव स्यादिति प्रतीयते) ।

विषयेऽस्मिन्नेकाऽन्या गवेषणा प्रोफे. पोल किपार्स्किमहाशयेन या विहिता, साऽप्यत्र प्रस्तूयते । तद्यथा–विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्, 2-3-25 इत्यनेन सूत्रेण हेतुवाचकाच्छब्दातृतीयापञ्चम्यौ विधीयेते । किन्तु 'विभाषा' इत्यनेन पदेन यो विकल्पो निर्दिष्टस्तत्र तृतीयान्तप्रयोगस्याधिक्यं सूच्यते, एवञ्च पञ्चम्यन्तप्रयोगः कादाचित्को (marginally) दृश्यते । तथापि गच्छता कालेन (पाणिन्युत्तरकाले) (ज्ञापक)हेतुवाचकाच्छब्दात्पञ्चमीप्रयोगस्याधिक्यं दरीदृश्यते[९] । (एवञ्च तृतीयान्त-प्रयोगस्य प्रायोऽदर्शनं सञ्जातम्) ।

---

8. 2-3-25 इत्यत्र हेतुशब्देन ज्ञापकहेतोर्ग्रहणं कर्तव्यमिति किपार्स्किमहोदयेनैव कथितम् ।

9. Paul Kiparsky: 2.3.25 Vibhasha gune striyam (24: Pañcami) (23: hetau)

A cause (hetu) which is a property (guna), i.e., expressed by an abstract noun, can marginally have the ablative endings, except in the feminine, e.g, viryat (or preferably viryena) Muktaḥ 'released by heroism.'

This rule is of great interest because it promises to give terminal ante and post quem for dating Panini. For the earlier and later stages of Sanskrit diverge completely here. In the older language, the ablative of cause never appears in abstract nouns. According to Renou citing Oldenberg, the ablative of cause, at least in abstract nouns, does not occur before the Bṛhadāranyaka Upaniṣad.

In later Sanskrit, the ablative of cause is of course extremely common. Whitney notes that the ablative is more frequent than the instrumental in this case. The ablative becomes very much a mark of coomentatorial style, and it dominates already Kātyāyana's Varttikas (e.g. na vā bahiraṅgalakṣaṇatvat)......

The present rule reflects a period *after* cause in abstract nouns began to be expressable by means of the ablative, but before this became favoured over the instrumental. - PĀṆINI AS A VARIATIONIST, pp. 95-96.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

सन्दर्भग्रन्था :

1. काशिकावृत्तिः (न्यासपदमञ्जरीसहिता), द्वितीयो भागः, सम्पादकौ - स्वामी द्वारिकादास शास्त्री एवं पं. कालिकाप्रसादशुक्लः, प्राच्यभारतीप्रकाशनम् , वाराणसी, 1965
2. वाक्यपदीयम् (काण्ड-3, भाग-1). Ed. K.A. Subramania Iyer, Deccan College, Poona, 1963.
3. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (द्वितीयांशः), पण्डित श्रीसभापतिशर्मोपाध्याय-विरचितया "लक्ष्मी" व्याख्ययोपेता । सं. श्रीबालकृष्ण पञ्चोलिनः । मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1966.
4. सांख्यवृत्तिः (V_2) Ed. by. E.A. Solomon, Gujarat University, Ahmedabad, 1973.
5. सांख्यसप्ततिवृत्तिः (V_1) Ed. by. E.A. Solomon, Gujarat University, Ahmedabad, 1973.
6. Pāṇini as a Variationist - by Prof. Paul Kiparsky, Ed. by Dr. S.D. Joshi, CASS, University of Poona, Pune, 1979

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

4

पाणिनीय-व्याकरणे ज्ञापकसिद्धवचनानि*

१.० पीठिका

पाणिनेर्व्याकरणसूत्राणां स्वल्पाक्षरत्वमनवद्यत्वञ्च प्रसिद्धम् । भाष्यकारः पतञ्जलिः प्रशंसति यद् – प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म, तत्राशक्यं वर्णेनापि अनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण (1.1.1 महाभाष्यम्), सामर्थ्ययोगान्न हि किञ्चिदस्मिन्पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात् । (6.1.77, महाभाष्यम्)

अतः, कस्मिनन्नपि सूत्रे पाणिनिः लाघवं परित्यज्य गौरवमाश्रयति तदा तस्य गौरवस्य गूढाशयो गवेषणीयो भवति । एवञ्च स्थूलदृष्ट्या यदि कस्यचित् सूत्रस्य किमपि पदम् अनर्थकं प्रतिभाति, यद्वा विरोधाभासमावहति तदा 'सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीयेत्यभियुक्तोक्तिरेवानुसरणीया । सन्दर्भेऽस्मिन् भाष्यकारोऽपि भणितवान् यद् – "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम् ।" अत्र, पाणिनेः सूत्राणां स्वारस्यमुद्घाटयितुं भाष्यकारादिभिर्ये तर्कप्रचोदिताः प्रयत्नाः पुरस्कृताः तेभ्य एव ज्ञापकसिद्धवचनानामाविर्भावो दरीदृश्यते ॥

२.०. ज्ञापकंसिद्धवचनस्योदाहरणद्वयम्

२.१ प्रथममुदाहरणम् :-

'येन विधिस्तदन्तस्य' (1.1.72) इत्यनेन विशेषणं तस्य च तदन्तस्य

* Indian Linguistics Section, 35th Session of the All India Oriental Conference, Haridwar, Nov. 1900, इत्यत्र प्रस्तुतमिदं शोधपत्रम् ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

च संज्ञा स्यादिति विधीयते । अत्र वार्तिककार उपदिशति यद् अकच्श्नम् - वतः सर्वनामाव्ययधातुविधावुपसङ्ख्यानं कर्तव्यम् । अन्यथा सर्वके-स्वके, उच्चकैः-नीचकैः, भिनत्ति-छिनत्ति इत्यादिष्वकच्वतः श्नम्वतश्च सर्वनामा-व्यययोः, धातोश्च तत्तद्रूपेण ग्रहणं नैव भविष्यति । तद्यथा - सर्वेति सर्वनाम्नः टेः प्राग् अकच्प्रत्यये कृते (अव्ययसर्वनाम्नाम् अकच् प्राक् टेः । 5.3.71 इत्यनेन); सर्वक इति जाते तच्छद्बस्य सर्वादिगणे पठितत्वाभावादेवञ्च तत्र सर्वान्तत्वाभावात् तस्य सर्वकेत्यस्य सर्वनामसंज्ञा न स्यात् । तेन च - सर्वक+अस् इति स्थिते, 'जसः शी' (7.1.17) इत्यस्य प्रवृत्यभावात् ''सर्वके'' इति रूपं नैव सिध्येत् । किन्तु भाष्यकारः समाधत्ते यदनेका नद्यः गङ्गां यमुनाञ्च प्रविष्टा गङ्गायमुनाग्रहणेन गृह्यन्ते, तथा देवदत्तास्थो गर्भो देवदत्ताग्रहणेन गृह्यते । अतः सर्वादिशब्देषु कुक्षिप्रविष्टोऽकच्प्रत्ययस्तदेकदेशभूतः सन्, सर्वादिशब्दत्वेन ग्रहीतुं शक्यते ।

अधुना विचार्यते ''तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यत'' इति कुतो ज्ञायते ? तर्हि पतञ्जलिर्भणति यद् 'नेदमदसोरकोः' (7.1.11) इत्यस्य 'अकोः' इति निषेधवचनं ज्ञापकमत्र । तद्यथा - यदि अकच्प्रत्ययसहितयोरिदमदसोः शब्दान्तरत्वेन ग्रहणम् अभविष्यत् तदा 'अकोः' इति निषेधवचनम् अनर्थकं स्यात् । किन्तु ''सामर्थ्ययोगान्न हि किञ्चदस्मिन् शास्त्रे यदनर्थकं स्याद्'' (6.1.77 इत्यत्र महाभाष्यम्) इत्यस्माकं पाणिनीयानां श्रद्धा वरीवर्तते । अतः सूक्ष्मेक्षिकया विचार्यमाणे ज्ञायते यत्-पाणिनिः स्वकीये तन्त्रे ''तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यत'' इति व्यवस्थामङ्गीकृत्य 'अकच्'-सहितयोर् इदमदसोरनन्तरं भिस ऐसादेशस्य निषेधनिवृत्तिकरणाय 'अकोः' इति परमावश्यकं मनुते ।

अत्र 'नेदमदसोरकोः' (7.1.11) इत्यस्य 'अकोः' इति पदं प्रथमं व्यर्थं सत् 'तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यत'' इति वाक्यान्तरं ज्ञापयति । पाणिनीयव्याकरण एतादृशं कल्पित-वाक्यान्तरं ज्ञापकसिद्धवचनमुच्यते ॥

● ● ●

इदानीं ''तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यत'' इति ज्ञापनेऽङ्गीकृते, (7.1.11) सूत्रस्थमकोरिति पदं स्वांशे चरितार्थं भवति । येन च इमकैः अमुकैः इति रूपद्वयं सिध्यति । एवमेव भिनत्तीति तिङन्तस्य धात्वंशे यथेष्टमन्तोदात्तः स्वरः प्राप्नोति ।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अत्र भिद्धातोः 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (1.1.47) इति परिभाषया श्नमि विहिते 'भिनद्' इत्यङ्गं प्राप्नोति। तत्र पूर्वोक्तेन ज्ञापकवचनेन शब्दान्तरत्वं न समापतति, श्नम्सहितस्यापि धातुत्वञ्च तथैवाक्षुण्णं वर्तते । ततश्च 'धातोः' (6.1.162) इत्यनेन, भिनत्तीति तिङन्ते पदेऽन्तोदात्तस्वरविधिः प्रवर्तते । यथा-भिनत्ति ।

२.२ द्वितीयमुदाहरणम्

'साधकतमं करणम्' (1.4.42) इत्यनेन पाणिनिः ''क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं भवतीति'' प्रतिपादयति ॥ अत्र भाष्यकारेणैकः प्रश्नः समुद्भावितः । तद्यथा - कारकाधिकारादेव साधकत्वस्य प्राप्तिर्न दुर्लभा । स्थितेऽपि कारकाधिकारे, करणसंज्ञाविधायके सूत्रे (1.4.42) साधकेति शब्दस्य सन्निवेशः करणस्य प्रकृष्टोपकारकत्वं गमयति । अतः प्रकृष्टोपकारकार्थं बोधयितुं तमप्ग्रहणमनर्थकं प्रतिभाति। अर्थात् - ''साधकं करणम्'' इत्येतादृशं लाघवयुक्तं सूत्रमभीष्टार्थप्रतिपादकं भवेदेव। तथापि सूत्रकारेण गौरवमाश्रित्य तमप्प्रत्ययमुच्चार्य 'साधकतमं करणम्'' (1.4.42) इति सूत्रं प्रणीतम् । अत्रैतादृशेन गौरवाश्रयेण सूत्रकारः ज्ञापयति यद् कारकसंज्ञायां (सामर्थ्यगम्यः) तरतमयोगो न भवतीति । इममेव ज्ञापकार्थं प्रतिपादयन् कैयटः कथयति यत् तमश्रुतिरेतज् ज्ञापयति यत् प्रकर्षप्रत्ययग्रहणमन्तरेणेह कारकप्रकरणे सामर्थ्यगम्यः प्रकर्षो नाश्रीयते । अतः, यदि 'साधकं करणम्' इति तमप्प्रत्ययेन विना पाणिनिः सूत्रं विरचयेत्तर्हि ''कारकाधिकारान्तर्गतं साधकपदं साधकतमार्थस्य प्रतीतिं जनयति'' इति नानुमन्येत। फलतः 'साधकं करणम्' इत्येतेन तु साधकमात्रस्य कारकस्य करणसंज्ञा समापतेत् । तद्यथा - 'धनुषः बाणेन विध्यति' इत्यत्रापादानरूपस्य धनुष्पदार्थस्यापि करणसंज्ञया 'धनुषा बाणेन विध्यति' इति प्रयोगापत्तिः ।

किन्तु सूत्रकारेण तु 'साधकतमं करणम्' (1.4.42) इति प्रकर्षार्थबोधकेन तमप्प्रत्ययेन सहितं सूत्रं प्रणीतम् । तेन सत्यपि साधकत्वे धनुष्पदार्थस्य करणसंज्ञा नैव भवति । यतो हि - साधकतमं तदेव भवति यद् फलसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं भवति । अर्थात् यस्य कारकपदार्थस्य व्यापारानन्तरं फलसिद्धिः भवति तदेव करणम् । इत्थमिह कारकप्रकरणे तरतमप्रत्ययमनुच्चार्य यदि कस्यापि कारकस्य संज्ञा विधीयते तदा तत्र शब्दसामर्थ्यजन्यस्य प्रकृष्टार्थस्य (-अतिशयार्थस्य-) प्रतीतिर्नैव कार्या ॥

ज्ञापनेनानेनापादानसंज्ञायाः अधिकरणसंज्ञायाश्च विषयेष्विष्टप्रयोगाः

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

संसाध्यन्ते । तद्यथा - आधारोऽधिकरणम् (1.4.45) इति सूत्रेऽपि तर-तमप्रत्ययाभ्यां विनैव सूत्रकारेणाधिकरणसंज्ञा विहिता । अतः अधिकरणे-त्यन्वर्थसंज्ञया सह प्रयुक्तस्याधार इति शब्दाधिक्यस्य सामर्थ्यान् ''मुख्याधार एवाधिकरणसंज्ञा प्रवर्तत'' इति नियमनं नैव क्रियते । तेन यथा मुख्याधारेऽधिकरणसंज्ञा प्रवर्तते, तथैव सामीप्य - मात्राश्रयेण गौणाधारेऽपि सा विधीयते । फलतः यत्राभिव्यापकः आधारः स्यात् (यथा-तिलेषु तैलम्) तत्राधिकरणसंज्ञा तु भवत्येव, किन्तु यत्र सामीप्यमूलकः आधारो भवेत् (यथा-गङ्गायां गावः, कूपे गर्गकुलम्) तत्रापि ''अधिकरण'' संज्ञा प्रवर्तते ॥

अत्र भाष्यकारो भणति - तथाधारमाचार्यः किं न्याय्यं मन्यते? यत्र कृत्स्न आधारात्मा व्याप्तो भवति । तेनेहैव स्यात् - तिलेषु तैलम्, दध्नि सर्पिरिति । गङ्गायां गावः, कूपे गर्गकुलम् इत्यत्र न स्यात् । कारकसंज्ञायां तरतमयोगो न भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ॥ (-साधकतमं करणम् । 1.4.42 इत्यत्र महाभाष्यम् ॥)

३.०. ज्ञापककल्पनस्य बीजम्

3.1. भाष्यकारेण प्रदर्शितेभ्यो नैकेभ्यो ज्ञापकसिद्धवचनेभ्य उदाहरणद्वयम-स्माभिः प्रपञ्चितम् । अत्र पतञ्जलिः पाणिनेः सूत्रात्मके व्याकरणेऽतीव श्रद्धत्ते । शपते च यत् सामर्थ्ययोगान्न हि किञ्चदस्मिन् शास्त्रे यदनर्थकं स्यात् । (6.1.77 इत्यत्र महाभाष्यम्) ।

अतोऽष्टाध्याय्यां कस्मिन्नपि सूत्रे यदि कोऽप्ययुक्तोऽनर्थको वा निर्देशो दृश्यते तदा तस्मिन् सूत्रे न्यासान्तरं नैव करणीयम् इति भाष्यकारस्य प्रतिज्ञा । यदि कुत्रापि अयुक्तनिर्देशो दृश्येत तदा सूत्रकारस्य मनसि स्थितं, यद्वा सूत्रकारेण परोक्षतया स्वीकृतं किमपि वाक्यान्तरं कल्पनीयम्, अयुक्तनिर्देशश्च सर्वथा परिहरणीय इति भाष्यपुरस्कृता पद्धतिः । स्थूलदृष्ट्या पाणिनीयसूत्रे यदनर्थकम् अयुक्तं वा प्रतिभाति तस्योपपत्तिस्तु तादृशेन वाक्यान्तर-कल्पनेन संभवति, ततश्च सूत्रस्य स्वारस्यमभिज्ञायते । अतः पाणिनीयानां वैयाकरणानां परम्परायामित्थं मन्यते यद् 'येन विना यदनुपपन्नं तेन तद् आक्षिप्यते' । अथ वा - 'येन विना यदनुपपन्नं तत्सर्वं तेन ज्ञायते'' ॥

इत्थं पाणिनीयसूत्रेषु स्थूलदृष्ट्या यत्किमप्यनर्थकमयुक्तं वा दृश्यते, तस्यान्यथानुपपत्तिरेव ज्ञापककल्पनायां बीजम् भवति ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

3.2. पाणिनेः सूत्राणि यथाऽनवद्यानि सन्ति तथैव तानि सर्वाणि स्वल्पाक्षराण्यपि सन्ति । अतः सूत्रकारेण पाणिनिना यदि कस्मिन्नपि सूत्रे लाघवं परित्यज्य गौरवमाश्रीयते तदा तादृशं गौरवमपि कस्यापि वाक्यान्तरस्य ज्ञापकत्त्वाय कल्पते । तेन पाणिनीयैः 'शब्दाधिक्याद् अर्थाधिक्यम्'? इति भाष्योक्ता [1] नीतिरपि स्वीकृता । उपर्युक्ते (2.2) द्वितीयोदाहरणेऽस्माभिः समीक्षितं यत् 'साधकतमं करणम्' (1.4.42) इति सूत्रे प्रकृष्टार्थं गमयितुं पाणिनिः साधकतमेति शब्दं प्रयुङ्क्ते । अत्र तमश्रुतिरेज्ञापयति यत् प्रकर्षप्रत्ययमन्तरेणेह कारकप्रकरणे सामर्थ्यगम्यः प्रकर्षो नाश्रीयते । अन्यथा कारकाधिकारान्तर्गतं केवलं साधकेति पदमपि प्रकृष्टार्थ बोधयितुं समर्थमासीत् । अतः तमप्रत्ययाधिक्यं किञ्चिज्ज्ञापयितुमेव सूत्रकारेणोररीकृतमिति पाणिनीयानां मतिः । स्वयं भाष्यकारोऽपि समर्थयति यद् – ''असत्यन्यस्मिन्प्रयोजने ज्ञापकं भवति । ......सोऽयमेवं लघीयसा न्यासेन सिद्धे सति यद् गरीयांसं सूत्रमारभते तज्ज्ञापयत्याचार्यः ......॥'' (–यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च । 3.4. 03 इत्यत्र महाभाष्यम् ।)

इत्थम् अष्टाध्याय्यां यदि कुत्रापि सूत्रकारेण स्थूल–दृष्ट्या प्रयोजनमन्तरेण गौरवमाश्रितं स्यात्तर्हि सूक्ष्मदृष्ट्या विचार्यमाणे तद्गौरवमपि ज्ञापक–कल्पनायां हेतुत्वं भजते ॥

४.०. ज्ञापकप्रक्रिया

4.1.1. ज्ञापकसिद्धवचनस्योदाहरणद्वयमस्माभिः पूर्वं प्रस्तुतम् । तस्य पर्यालोचनेन प्रतीयते यद् भाष्यकारो ज्ञापकचर्चायां पाणिनेः कस्मिंश्चित् सूत्रे कस्यापि पदस्य (1) प्रथमे सोपानेऽयुक्तत्वमानर्थक्यं वा प्रदर्शयति; (2) ततोऽस्मिन् शास्त्रे किञ्चिदप्यनर्थकं नास्तीति गृहीतश्रद्धापूर्वकं तादृशस्यानर्थकस्या–युक्तस्य वा प्रयोगस्य सार्थकतां साधयितुं किमपि वाक्यन्तरं प्रस्तौति, (3) येन च पूर्वप्रदर्शितस्यानर्थक्यमयुक्तत्वं वा निवर्तयति । ततश्च – (4) कल्पित–वाक्यान्तरेण कस्यचिद् इष्टरूपस्य सिद्धिरपि समुद्भवति ॥

इत्थं भाष्यकारो ज्ञापकचर्चायां प्रायः चत्वार्यङ्गानि निरूपयति । तद्यथा – (1) आदौ वैयर्थ्यम्, (2) पश्चाद् वाक्यान्तरकल्पना, (3) स्वांशे चारितार्थ्यम्,

1. किं गतमेतदुपसर्गेण, आहोस्विच्छब्दाधिक्यादर्थाधिक्यम् ॥ (तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य । 1.1.66-67 इत्यत्र महाभाष्यम् ।)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

(4) अन्यत्र फलञ्च ॥

अत्र कल्पिवाक्यान्तरं ज्ञापकसिद्धवचनं ज्ञापितवचनं वेति पारिभाषिक-संज्ञयाभिधीयते । एवञ्च – यस्मात्सूत्राद् वाक्यान्तरं कल्प्यते तत्सूत्रं ज्ञापक-सूत्रमित्युच्यते ॥

4.1.2 पाणिनीये व्याकरणे ज्ञापितवचनस्यान्वेषणाय या प्रक्रियाऽऽश्रीयते, सा पूर्वमीमांसाप्रोक्तेनार्थापत्तिप्रमाणेन सह तुलनामर्हति । ''औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः ....'' (जै.सू., 1.1.5) इति जैमिनीयसूत्रे शबरस्वामी भाष्यमित्थं वितनोति :- अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते, इत्यर्थकल्पना । यथा – जीवतो देवदत्तस्य गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना ॥[2] अत्र मीमांसाप्रोक्तेऽर्थापत्तिप्रमाणे यथा दृष्टः श्रुतो वाऽर्थः प्रथमम् अनुपपद्यमानः दृश्यते। ततः तमुपपादयितुमर्थान्तरस्य कल्पना क्रियते । इयञ्चार्थान्तरकल्पनैवार्था-पत्तिरित्युच्यते । तथैव पाणिनीय-व्याकरणेऽपि यानि ज्ञापकसिद्धवचनानि समुद्भावितानि, तत्रापि प्रारम्भे सूत्रकारस्य कस्मिन्नपि सूत्रे कस्यचित्पदस्यायुक्तत्व-मनर्थकत्वं गौरवाश्रयणं वा प्रतिभाति । अतस्तत्र सूत्रकारस्य गूढाशयं मनसि सम्प्रधार्य कस्यचिद् वाक्यान्तरस्य कल्पनां समुदघाट्यायुक्तत्वमनर्थकत्वं वैयर्थ्यं वा दूरीक्रियते ॥[3] इत्थं मीमासांप्रोक्तेनार्थापत्तिप्रमाणेन सह वैयाकरणानां ज्ञापकसिद्धवचनानां सुतरां साम्यं प्रतीयते, तथापि ज्ञापकचर्चायां यथा 'स्वांशे चारितार्थ्यम्', 'अन्यत्र फलम्' चेति द्वे अङ्गे वर्तेते, ते अर्थापत्तौ न प्रदर्श्येते ।

कैयटोऽपि भाष्यप्रदीपे ज्ञापकसिद्धवचनम् अर्थापत्या सिध्यतीति लिखति । तद्यथा – युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः । (पा.सू., 2.1.66) इत्यत्र भाष्यम् – ''अयुक्तोऽयं निर्देशः ।'' तत्र 'प्रदीपः' – अयुक्त इति । पुंल्लिङ्गस्य स्त्रीलिङ्गेन सामानाधिकरण्यं नोपपद्यत ''इत्यर्थापत्या'' परिभाषा ज्ञाप्यते । युवतिर्जरतीति स्त्रीलिङ्गयोः समासः ॥ (P. 405) भाष्यकारेणान्यत्र तु स्पष्टीकृतमेव यत् सर्ववेदपरिषदं हीदं शास्त्रम् तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम् । (2.1.58 इत्यत्र महाभाष्यम् ।) अतः पाणिनीयैः यदि पूर्वमीमांसाया अर्थापत्तिरपि ज्ञापकशब्देन

---

2. द्रष्टव्य -बृहती (प्रभाकरमिश्रविरचिता शाबरभाष्यव्याख्या) प्र 0 84.

3. नागेशो बृहच्छब्देन्दुशेखर इदमेव समर्थयन् आह-यस्मिन् ज्ञापिते यस्य चारितार्थ्यं तत्तेन ज्ञाप्यमिति ॥ (अतो रोरप्लुताद 0 6.1. 109 इत्यत्र बृहच्छब्देन्दुशेखरः, Vol., I.P. 305)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

स्वीकृता स्यात्तर्हि तत्र दोषावहम् ।

4.2 ज्ञापकचर्चायां प्रायः पूर्वोक्तानि (4.1.1.) चत्वार्यङ्गानि दृश्यन्ते । किन्तु कुत्रचित् पाणिनेः सूत्रन्यासाद् विशिष्टशब्दप्रयोगाद् एव किमप्यनुमानम् उद्ध्रियते । एतादृशान्यनुमितानि वाक्यान्यपि ज्ञापनानि, ज्ञापकवचनानि ज्ञापितवचनानि वोच्यन्ते ।

अथोदाहरणमुखेन प्रस्तूयतेऽनुमानप्रसाधितं ज्ञापनम् ॥ (1) अइउण् । (माहेश्वरसूत्रम्, 1) अत्रैकः प्रश्नः समुत्थाप्यते – ''किं सूत्रकारेणैव विवृत्तोपदेशः कृतो, वार्तिककारेण तु तस्य प्रयोजनमुक्तम् अथवाऽकृत एव विवृत्तोपदेशो वार्तिककृता कर्तव्यत्वेनोपन्यस्त'' इति ॥ प्रश्नोऽयं भाष्यकारेणेत्थं समाधीयते – ''विवृतोपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते । कथं ज्ञायते । यदयम् – अ अ (8.4.67) इत्यकारस्य विवृतस्य संवृततताप्रत्यापत्तिं शास्ति ... (पाणिनिः) ... । तदेतत् – प्रत्यापत्तिवचनं ज्ञापकमेव भविष्यति – ''विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजन-मन्वाख्यायत' इति । (महाभाष्ये द्वितीयं – प्रत्याहाराह्निकम् – पृ. 64, भाग 1) ।

अत्राष्टाध्याय्या अन्तिमस्य 'अ अ' (8. 4. 67) इति सूत्रस्यो-पस्थित्यैवानुमातुं शक्यते यद् 'अइउण्' इति माहेश्वरसूत्रे संवृत अकारो वर्तते ।

(2) एवमेव – कर्तृकर्मणोः कृति । (2, 3. 65) इति सूत्रस्य 'कृति' इति पदे नास्ति परसप्तमी विषयसप्तमी वा, किन्तु तत्र तु सत्सप्तमी वर्तते । इदन्तु 'उभयप्राप्तौ कर्मणि (2.3.66) इत्यस्य सूत्रस्य कर्मणीति पदेनैवानुमीयते ॥

अत्रादौ वैयर्थ्यमित्यस्माद् आरभ्यान्यत्र फलमित्येतत् – पर्यन्तानि ज्ञापकचर्चायामुपयुक्तानि चत्वार्यङ्गानि नैवोपस्थाप्यन्ते । यथा 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यनुमातुं धूमदर्शनं हेतुत्वेनाङ्गीक्रियते तथैव ''अ अ' (8.4.67) इति ज्ञापकसूत्रं दृष्ट्वैवानुमीयते यद् 'अइउण्' इति माहेश्वरसूत्रेऽकारः संवृतोऽस्ति । एवञ्च उभयप्राप्तौ कर्मणि' (2.3.66) इति सूत्रस्य 'कर्मणि' इति पदं दृष्ट्वैव 'कर्तृकर्मणोः कृति' (2.3.65) इत्यत्र 'कृतिपदं सत्सप्तम्यर्थे प्रयुक्तमित्यनुमीयते ।

कैयटेनापि भाष्यप्रदीपे ज्ञापकवचनमनुमानत्वेनोद्घोषितम् । (तद्यथा-स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (8.2.6) इत्यत्र भाष्यप्रदीपे स लिखति यद् –

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

''अनुमानत्वात् ज्ञापकस्य तत्रैकपदाश्रयैकादेशस्वरः सिद्ध इत्यनुम इति प्रतिषेधेन ज्ञाप्यते ॥'')

५.० ज्ञापकसिद्धवचनानां कार्याणि

पाणिनीयव्याकरणे ज्ञापकसिद्धवचनैरनेकानि कार्याणि साध्यन्ते । तद्यथा – (1) कुत्रचित् सूत्रार्थो विशदीक्रियते, (2) अनुवृत्तेरवधिर्व्यवस्थाप्यते, (3) शास्त्रीया रूपप्रक्रिया निर्वाह्यते, (4) इष्टरूपाणां सिद्धीः प्रदर्श्य कुत्रचिद् अनिष्टरूपाणां निवृत्तिरपि प्रदर्श्यते, अथवा (5) केषाञ्चन शिष्टप्रयोगाणां साधुत्वमप्युद्घोष्यते । शास्त्रेऽस्मिन् यानि च परिभाषावचनानि सन्ति, तेषां प्रामाण्यमनित्यत्वञ्चापि प्रायः ज्ञापकवचनैरेव निरूप्येते । इत्थं ज्ञापकसिद्ध-वचनानामनेकानि कार्याणि सन्ति । इदानीन्तेषामुदाहरणानि प्रस्तूयन्ते ।

(क) कुत्रचित्सूत्रार्थं स्पष्टीकर्तुं ज्ञापकवचनान्युपस्थाप्यन्ते । तद्यथा –

(1) 'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः' (2.1.36) इत्यनेन चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् तद्वाचिनाऽर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा समस्यते । यथा यूपाय दारु-यूपदारु ॥ अस्मिन् सूत्रे ''तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्यत'' इति बलिरक्षितग्रहणाज् ज्ञाप्यते ॥

यदि तादर्थ्येनोपकार्योपकारकादीनां सम्बन्धस्यापि ग्रहणं स्यात् तर्हि बलिरक्षितशब्दयोर्ग्रहणम् अनर्थकं भवेत् । किन्त्वत्र तादर्थ्येन केवलं प्रकृतिविकृतिभावस्यैव ग्रहणमभीष्टं स्यात् । अतः सूत्रकारेण बलिरक्षितयोरपि ग्रहणं क्रियते ॥ ज्ञापकेनानेन सूत्रेऽस्मिन् तदर्थपदेन प्रकृतिविकृतिभावस्यैव ग्रहणं कर्तव्यम् इति स्पष्टीभवति ।

(2) सर्वादीनि सर्वनामानि (1-1-27) इत्यनेन ''सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युर्'' इति बुध्यते । किन्तु सर्वादिशब्दान्ता-नामपि सर्वनामेति संज्ञा स्यान्न वेति प्रश्नो यदा समुद्भवति तदा ज्ञापकमाश्रीयते । तद्यथा – 'द्वन्द्वे च' (1.1.31) इति सूत्रेण द्वन्द्वसमासे प्रयुक्तानां सर्वादिशब्दानां सर्वनामसंज्ञा निषिध्यते । तेन ज्ञायते यद् अन्यत्र (–तत्पुरुषादौ) सर्वादिशब्दान्तानामपि सर्वनामसंज्ञा भवत्येव । (तेन परमसर्वत्रेति त्रल्, 'परमभवकान्' इत्यत्र 'अकच्' च सिध्यतः ।)

(ख) अनुवृत्तेरवधिरपि ज्ञापकवचनैर्व्यवस्थाप्यते । तद्यथा – 'अवङ्

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

स्फोटायनस्य' (6.1.123) इत्यत्र 'एङः पदान्तादति' (6.1.109) इत्यतः 'अति' इत्यनुवर्तते न वेति प्रश्नो जायते । अत्र ज्ञापकसमाधिः प्रदर्श्यते – 'इन्द्रे च' (6.1.124) इति सूत्रारम्भसामर्थ्यात् 'अवङ् स्फोटायनस्य' (6.1.123) इत्यस्माद् विभाषा नानुवर्तते ।[4] अन्यथा 'अवङ्स्फोटायनस्य' (6.1.123) इति पूर्वसूत्राद् एव 'गवेन्द्र' इत्यादीनां सिद्धिः स्याद् इत्युच्यते । इत्थम् 'इन्द्रे च' (6.1.124) इति सूत्रं विभाषानिवृत्यर्थमस्तीति भाष्याशयाज्ज्ञायते यद् 'अवङ् स्फोटायनस्य' (6.1.123) इत्यत्र 'अति' इति पदं नानुवर्तते, किन्तु 'इको यणचि' (6.1.77) इत्यस्माद् 'अचि' इति पदमनुवर्तते ॥

भट्टोजिदीक्षितैः पूर्वोक्तं ज्ञापकं मनस्यवधार्यैव 'अवङ् स्फोटायनस्य' (6.1.123) इति सूत्रस्य वृत्तिरित्थं लिख्यते – अति इति निवृत्तम् । अचि परे पदान्ते गोरवङ् स्यादिति ॥

(2) 'चरेष्टः' (3.2.16) इत्यत्र 'अधिकरणे शेतेः' (3.2.15) इत्यतः किम् 'अधिकरण' इति पदमनुवर्तते, उत 'कर्मण्यण्' (3.2.1) इत्यतः 'कर्मणि' इत्यनुवर्तते ? इति स्पष्टीकर्तुं भाष्यकारः 'चरेष्टः' (3.2.17) इति सूत्रं विवृणोति । तद्यथा – इह कस्मान्न भवति 'कुरूंश्चरति', 'पञ्चालांश्चरति' इति? अधिकरण इति वर्तते । ननु च कर्मणीत्यपि वर्तते । तत्र कुत एतद् 'अधिकरणे भविष्यति; न पुनः कर्मणीति ॥ * चरेर्भिक्षाग्रहणं ज्ञापकं कर्मण्यप्रसङ्गस्य * । यदयं ''भिक्षा सेनादायेषु च'' (3.2.17) इति चरेर्भिक्षाग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो 'न भवति कर्मणीति' ॥ (3.2.17 इत्यत्र महाभाष्यम् Vol. II, P. 153) अर्थात् कर्मण्युपपदे यदि चरेष्टः प्रत्ययो विधीयते तदा 'भिक्षां चरतीति भिक्षाचर' इति साधयितुं भिक्षासेनादायेषु चेति (3.2.17) सूत्रमनावश्यकं प्रतिभाति । अतो भिक्षासेनादायेषु चेति सूत्रारम्भसामर्थ्याज् ज्ञायते यत् 'चरेष्ट' इत्यत्र 'अधिकरण' इत्येव पदमनुवर्तते । तेन चाधिकरण उपपदे सत्येव 'चरेष्ट' इति सूत्रस्य प्रवृत्तिर्भवति, नान्यथा ॥

(ग) शास्त्रीयकार्याणि निर्वोढुम् उपयुक्तानि ज्ञापकान्यपि सन्ति । तद्यथा–

---

4. प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् । 16.1.125 नित्यग्रहणं किमर्थम् ? विभाषा मा भूदिति । नैतदस्ति प्रयोजनम् । पूर्वस्मिन्नेव योगे विभाषाग्रहणं निवृत्तम् ॥ (6.1.125 इत्यत्र महाभाष्यम् Vol. II, P. 770) अत्रोद्द्योतः– इन्द्रे चेति आरम्भसामर्थ्यादिति भावः ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

(1) तस्य लोपः (1.3.9) इत्यत्र भाष्येऽनुबन्धानामेकान्तत्वे स्वीकृते, 'अनेकाल्शित् सर्वस्य (1.1.54) इत्यत्र शिद्ग्रहणं व्यर्थं प्रतिभाति । यतो हि 'अष्टाभ्य औश्' (7.1.21) इत्यादिसूत्रविहितानाम् औशादीनां सर्वादेशत्वसिद्धिः स्वयमेव भविष्यत्यनेकाल्त्वात् । अतः शिद्ग्रहणं व्यर्थं सञ्ज्ञापयति यन् ''नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्'' । ज्ञापकेनानेन 'अर्वणस्त्रसावनञः (6.4.127) इत्यनेन 'अर्वन्' इत्यस्य स्थाने सर्वादेशत्वेन 'तृ' इति आदेशस्य प्रवृत्तिर्नैव भवति । अर्वणस्त्र0 इति सूत्रविहिते 'तृ' इति आदेशेऽनुबन्धरूपेणर्कारोऽनुबद्धः । अतस्तमनुबन्धं विहायैवादेशेऽनेकाल्त्वम् अस्ति न वेति विचारणीयम् ॥

एवमेवान्यान्यप्यनुबन्धविषयकाणि ज्ञापकसिद्धवचनानि श्रूयन्ते । तद्यथा – 'उदीचां माङो व्यतीहारे' (3.4.19) इत्यत्र माङ् – ग्रहणान् ''नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्'' इति ज्ञाप्यते । तथा च 'ददातिदधात्योर्विभाषा' (3.1.139) इत्यनेन णबाधकशस्य विकल्पविधानेन ज्ञायते ''नानुबन्धकृतमसारूप्यम्'' इति ॥ कस्यापि रूपस्य प्रक्रियायामेतादृशानि ज्ञापक-वचनान्यतीवोपकारकाणि सन्तीति तु सर्वविदितम् ॥

(घ) इष्टरूपसाधकान्यनिष्टरूपापत्तेश्च – निवर्तकानि ज्ञापकवचनानि कानिचित्सन्ति । तद्यथा – (1) 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (4.1.1.) इत्यत्र ङ्याब्ग्रहणमनर्थकं प्रतिभाति । यतो हि – 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषयैव ङ्यन्तादाबन्ताच्च सुबुत्पत्तिः संभविष्यति । एवं ङ्याब्ग्रहणं व्यर्थं सञ्ज्ञापयति – ''ङ्याबन्तादेव शब्दस्वरूपात् तद्धितोत्पत्तिः स्यात्; ङ्याब्भ्यां प्राङ् मा भूदिति'' ॥ तेन आर्यशब्दाद् अन्तरङ्गस्यापि तद्धितस्य 'कन्' प्रत्ययस्य प्रथममुत्पत्तिर्नैव भवति । प्रथमन्तु 'टाप्' – प्रत्ययमेवासञ्ज्य 'आर्या' इति टाबन्तं शब्दस्वरूपं साध्यते । ततः 'केऽणः' (7.4.13) इत्यनेन, ह्रस्वे कृते 'उदीचामातः स्थाने०'(7-3-४-46) इत्यनेन (स्त्रीप्रत्ययाऽऽकारस्थानिको योऽकारस्तस्य कात्पूर्वस्येद् विकल्पेन भविष्यति । तेन 'आर्यिका'–'आर्यका' इतीष्टं रूपद्वयं सिध्यति ॥[5]

(2) 'नौद्व्यचष्ठन्' (4.4.7) इत्यनेन 'नावा तरती'त्यर्थे नौशब्दात् 'ठन्' विहिते 'नाविक' इति तद्धितान्तं शब्दस्वरूपं सिध्यति । अत्र नौशब्दे

5. आर्य+टाप्→आर्या । आर्या+कन्→आर्याक→आर्यक । आर्यक इत्यत्र कात्पूर्वस्येद् वा→आर्यिक-आर्यक । ततः (1) आर्यिक+टाप्=आर्यिका । (2) आर्यक+टाप्=आर्यका ।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

वर्णद्वयसमुदायरूपस्यौकारस्य द्व्यच्कत्वमस्तीति 'द्व्यच' इत्यनेनैव तस्य ग्रहणे सिद्धे नौग्रहणं व्यर्थं सञ्ज्ञापयति यन् – 'नाप्यपवृक्तस्यावयवस्य तद्विधिः॥'' (अस्य ज्ञापितवचनस्य – ''अप्यपवृक्तस्य=अभिन्नबुद्धिविषयस्य समुदायस्य योऽवयवः, तस्य तद्विधिः=पृथग्भूतवर्णविधिर्नैव भवती'' त्यर्थः ॥)

तेन नावित्यत्रौकारस्य वर्णद्वयरूपतया ग्रहणाभावाद् द्व्यच्कत्वं न भविष्यति। अतस्तस्मिन् 'नौद्व्यचष्ठन्' (4.4.7) इति सूत्रे नौग्रहणं सार्थकं भवति। अनेन च ज्ञापकसिद्धवचनेन 'अग्ने इन्दम्' इत्यादिषु स्थलेष्वेकारोत्तर-भागस्येकारावयवस्य पृथग्ग्रहणाभावाद् 'अकः सवर्णे दीर्घः' (6.1.101) इत्यनेन सवर्णदीर्घापत्तिर्न भवति ॥

इत्थं ज्ञापकसिद्धवचनैरिष्टरूपाणां सिद्धिस्तु भवत्येव, किन्तु कुत्रचिद् अनिष्टापत्तिरप्यवरुध्यते ॥

(ङ) ज्ञापकवचनैः परिभाषाणां प्रामाण्यमनित्यत्वं वा संसूच्यते। तद्यथा – (1) 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (1.1.56) इति सूत्रभाष्ये कात्यायन ''एकदेशविकृतस्योपसंख्यानं'' कर्तव्यमिति वार्तिकेनैकां परिभाषां प्रस्तौति। यतो हि – तया परिभाषया 'पचतु' – 'पचन्तु' इत्यत्र तिङ्ग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात्। अर्थात् – पचत्वित्यत्रेकारस्य विकारेऽपि तकारस्तिङ्त्वस्य व्यञ्जको भवेत्। यद्यत्र वार्तिककारस्य पूर्वोक्तमपूर्वं वार्तिकवचनं स्वीक्रियते तदा पाणिनेरष्टाध्यायी नैव स्वयं पर्याप्तेत्याक्षेपापत्तिः। अतः 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (4.1.83) इत्यत्र भाष्यकारो भणति– ''अयुक्तोऽयं निर्देशः। न हि तत्र कश्चिद् दीव्यच्छब्दः पठ्यते। कस्तर्हि ? दीव्यतिशब्दः। कथं तर्हि निर्देशः कर्तव्यः। प्राग्दीव्यतेरिति। स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः प्राग्दीव्यतेरिति, न कर्तव्यः। दीव्यतिशब्दे दीव्यच्छब्दोऽस्ति, तस्मादेषा पञ्चमी। किं पुनः कारणं विकृतनिर्देशः क्रियते ? एतज्ज्ञापयत्याचार्यो ''भवत्येषा'' परिभाषा – ''एकदेशविकृतमनन्यवद्भवतीति''। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ? एकदेशविकृतेषूपसंख्यानं चोदितं तन्न कर्तव्यं भवति ॥'' (4.1.83 इत्यत्र महाभाष्यम् Vol. II, P. 353)।

इत्थं सूत्रकारस्य दीव्यदिति विकृतनिर्देशाद् भाष्यकारो वार्तिककारोक्तायाः परिभाषाया अस्तित्त्वं प्रामाण्यं वा प्रदर्शयति। एवम् अनया रीत्या ज्ञापकवचनैर्नैकाः परिभाषाः पाणिनेः पूर्वमपि विद्यमाना आसन्, सूत्रकारेण च स्वकीये तन्त्रे ताः स्वीकृताः सन्तीति भाष्यकारेण प्रतिपाद्यते।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

(2) कुत्रचिज्ज्ञापकसिद्धपरिभाषाया अनित्यत्वमपि ज्ञापकान्तरेण प्रदर्श्यते। तद्यथा – अभ्यासस्याऽसवर्णे (6.4.78) इत्यनेन सूत्रेण 'वार्णादाङ्गं बलीय' इति परिभाषाया अस्तित्वं स्वीक्रियते। ततश्च 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (6.4.19) इत्यत्र च्छ्वोरिति सतुङ्निर्देशात् तस्याः परिभाषाया अनित्यत्वमपि ज्ञाप्यते ॥ तद्यथा – यदि वार्णकार्यादङ्गाधिकारीयो विधिर्नित्यरूपेण बलवान् भवति, तर्हि तुका सहितं च्छ्वोरिति ग्रहणं भवितुं नार्हति। यतो हि – तुगागमस्य प्रवृत्तेः प्राक्, छकारस्य स्थाने शकारो भविष्यत्येवाङ्गकार्यत्वात्। इत्थं च्छ्वोरिति सतुङ्निर्देशोऽस्याः परिभाषाया अनित्यत्वं ज्ञापयति।

(च) शिष्टप्रयोगाणां साधुत्वबोधनायापि ज्ञापकसिद्धवचनान्युपयुक्तानि भवन्ति। तद्यथा – तनादिकृञ्भ्य उः (3.1.79) इत्यत्र तनादिधातुगणपाठादेव डुकृञ् करण इत्यस्य धातोर्ग्रहणं भविष्यति। पुनः कृञ्ग्रहणाद् 'गणकार्यमनित्यम्' इति परिभाषावचनं ज्ञाप्यते। तेन च ''न विश्वसेद् अविश्वस्तम्'' इत्यादि-शिष्टप्रयोगस्य साधुत्वं मन्यते। अत्र 'श्वस्' धातोरदादिगणान्तर्गतत्वाद् 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (2.4.72) इत्यनेन सूत्रेण शपो लुग्रूपे गणकार्ये सञ्जाते (वि+श्वस्+यात्=) विश्वस्याद् इति भाव्यम्। किन्तु पूर्वोक्तरीत्या शपो लुग्रूपस्य गणकार्यस्यानित्यत्वे ज्ञापिते 'विश्वसेद्' इति रूपस्यापि साधुत्वम् उद्घोष्यते।

—x—

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

5

पाणिनीयव्याकरणे लक्षणाया अस्वीकारे किं बीजम्*

1.1. इदन्तु विदितचरमेव यन्नैयायिकैरालङ्कारिकैश्च स्वीकृता प्रपञ्चिता च लक्षणा वैयाकरणपुरन्दरेण नागेशभट्टेन नैव स्वीकृता । परमलघुमञ्जूषायाञ्च तस्याः शब्दवृत्तेः खण्डनं कर्तुं समुद्यतः सः, तां (लक्षणां) जघन्यवृत्तित्वेन विनिन्द्ये वृत्तिद्वयावच्छेदकद्वयकल्पने गौरवात् तां नोररीचकार[1] । यथा च मीमांसकैर्लक्षणा त्वभिधायाः पुच्छभूताऽस्तीति प्रस्थाप्य, तस्याः स्वतन्त्रवृत्तित्वेन निरूपणं नैव क्रियते; तथैव नागेशभट्टेनाप्यभिधा द्विविधा कल्पिता । तद्यथा प्रथमा शब्दस्यैका प्रसिद्धा शक्तिः, द्वितीया चाप्रसिद्धा शक्तिः । आमन्दबुद्धेरारभ्य प्रबुद्धव्यक्तिपर्यन्तं यथाऽर्थबोधो जायते, साऽस्ति शब्दस्य प्रसिद्धा शक्तिः । गङ्गादिशब्देभ्यः प्रवाहादिरूपस्यार्थस्य बोधनाय या प्रवर्तते, सा प्रसिद्धा शक्तिरित्युच्यते । यथा च केवलेन सहृदयहृदयमात्रेण योऽर्थो बुध्यते, तत्र शब्दस्याप्रसिद्धा शक्तिः प्रवर्तत इति मञ्जूषाकाराणामभिमतम्[2] । अनया च

---

* अखिल भारतीय प्राच्यविद्यापरिषदः (AIOC) चत्वारिंशत्तमेऽधिवेशने (28-30 May 2000) चेन्नैनगरे प्रस्तुतमिदं शोधपत्रम् ।

1. सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचका इति भाष्याल्लक्षणाया अभावात् । वृत्तिद्वयावच्छेदकद्वयकल्पने गौरवात् । जघन्यवृत्तिकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च । – 'परमलघुमञ्जूषा'; सं. अलखदेव शर्मा, प्रका. चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1974 (पे. 49)

2. शक्तिर्द्विविधा – प्रसिद्धाऽप्रसिद्धा च । आमन्दबुद्धिवेद्यत्वं प्रसिद्धत्वम् । सहृदयहृदयमात्रवेद्यत्वम् अप्रसिद्धत्वम् । तत्र गङ्गादिपदानां प्रवाहादौ प्रसिद्धा शक्तिः, तीरादौ चाप्रसिद्धेति । – परमलघुमञ्जूषा, (पृ. 51)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

गङ्गादिपदेभ्यः सहृदयव्यक्तेर्मनसि तीरादिरूपस्यार्थस्यापि प्रतीतिर्जायते । इत्थं गङ्गादिपदेभ्यस्तीरादीनां प्रतीतौ शब्दस्याभिधा शक्तिरेव प्रवर्तते, किन्तु सा शब्दस्याप्रसिद्धा (अभिधा) शक्तिरित्युच्यते । अत्र वैयाकरणनिकाये तीरादिरूपस्य विशेषार्थस्य प्रतीतौ नास्ति लक्षणायाः काऽपि विशेषावश्यकता ।

1.2. शब्दस्याप्रसिद्धशक्तितो गङ्गादिपदेभ्य एव तीरादिप्रत्ययो भवतीति कथं वक्तुं पार्यते । यद्वा शब्दस्याप्रसिद्धा शक्तिरप्यस्तीति कथनाय किं प्रमाणमिति प्रश्नः? अस्या जिज्ञासाया उपशमनाय नागेशो भणति यत् सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचका इति भाष्यम् एव गृहाण[3] । अर्थादिदमापन्नं यद् गङ्गादिशब्दा यथा प्रवाहादीनां वाचका भवन्ति तथैव तीरादीनामपि वाचका भवन्ति । दा-धा घ्वदाप् (पा.सू. 1.1.20) इत्यत्र भाष्यकारेणैकः श्लोकः समुदधृतः । तद्यथा -

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते[4] ॥

श्लोकस्यास्य योऽर्थः, स इत्थं प्रतिभाति-शब्दस्य नित्यत्वोपपादनाय इको यणचि[5] इत्यादिसूत्रैरेकदेशविकारं नैव भणति पाणिनिः । किन्तु 'सुधी' इत्यस्य स्थाने सुध्य् इत्यादेशो भवति; तथा च सुधी इत्यस्माद् यस्यार्थस्य प्राप्तिर्भवति तस्यैवार्थस्य प्राप्तिः सुध्य् इत्यस्मादपि भवति । सर्वे सर्वपदादेशा इत्यस्य पदसमूहस्येदम् आकूतं निभाल्य, श्रीमता नागेशभट्टेन प्रौढिवादेनोक्तं यत् सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः । अत एव च गङ्गादिशब्दाः तीरादीनामपि वाचकाः (न तु लक्षकाः) भवन्ति ।

अत्र नागेशः कथयति-यदि सर्वे सर्वार्थवाचकाः स्युः, तर्हि घटपदात् पटरूपस्यार्थस्य प्रतीतिः कथं नेति चेत् तादृशपटरूपस्यार्थस्य विषये नास्ति वक्तुस्तात्पर्यम् । अन्यथा (सति तात्पर्ये) तादृशस्याप्यर्थस्य प्रतीतिर्घटपदादपि भवितुमर्हति । इत्थं नागेशोऽभिधाशक्तिं द्विधा विभज्य, प्रवाहादिरूपम् अर्थञ्च

3. .... भ्रान्तोऽसि, सति तात्पर्ये 'सर्वे सर्वार्थवाचका' इति भाष्यमेव गृहाण । - 'परमलघुमञ्जूषा' (पृ. 47)

4. द्रष्टव्यम् - 'व्याकरणमहाभाष्यम्' (प्रथणो भागः), प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1967 (पृ. 184).

5. पा. सू. 6. 1. 77.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

तीरादिरूपमर्थञ्च क्रमात् प्रसिद्धाशक्तितोऽप्रसिद्धाशक्तितः प्रादुर्भवत इत्युक्त्वा लक्षणां नैवाङ्गीकरोति । अत्र नागेशस्य पक्षे पूर्वोक्ता भाष्योक्तिः प्रमाणत्वेन जागर्ति, तत्तु स्मर्तव्यम् ।

1.3 किन्तु व्याकरणस्य त्रिभ्यो मुनिभ्योऽन्यौ द्वावस्मिन् विषये किं निरूपितवन्तौ तदपि गवेषणीयम् । महर्षेः पाणिनेः कानि सूत्राणि सन्ति, यानि लक्षयाणाः पार्थक्येनानङ्गीकारं प्रकटयन्ति । तथैव च वार्तिककारस्य कात्यायनस्यापि किमिदमेवाभिमतमासीत् । अस्ति च किमपि वार्तिकवचनं यत्र लक्षयाणा अस्वीकरणं द्रष्टुं शक्यते ।

२.०. लक्षणाया अभावज्ञापकानि सूत्राणि

2.1 अत्रोच्यते - पाणिनेः प्रथमाविभक्तेर्विधानार्थम् - प्रातिपदिकार्थ-लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे - प्रथमा[6] इति सूत्रं विद्यते - सूत्रे अस्मिन् परिमाणग्रहणं किमर्थमिति प्रश्नम् उद्भाव्य काशिकाकारेण द्रोणः, खारी, आढकम् इत्यादी-न्युदाहरणानि प्रस्तुतानि । किन्तु द्रोण इति शब्दश्रवण-प्रसङ्गे परिमाणरूपमर्थम् अवबुध्यत एव, येन च प्रातिपदिकार्थे प्रथमा इत्यनेनैव प्रथमा भविष्यति । अत्र परिमाणरूपेऽर्थेऽपि प्रथमा भवतीत्यर्थलाभाय परिमाणग्रहणस्य नास्ति काप्यावश्यकतेति शङ्का । इमां शङ्काम् अपाकर्तुं विशदं व्याख्यानमपेक्ष्यते । तद्यथा - सत्यमिदं यद् द्रोणशब्दादेव परिमाणरूपस्यार्थस्य प्रतीतिर्भवति । अतः प्रातिपदिकार्थे प्रथमेत्यन्यूनम्, साधु सूत्रञ्च भविष्यति । किन्तु यदा द्रोणो व्रीहिरिति वाक्यं श्रूयते, तदा द्रोण इति प्रथमान्तः शब्दः परिमाणरूपेऽर्थे न प्रयुक्तः, परंतु परिमेयार्थे प्रयुक्तो वर्तते । शब्दान्तरेणोच्यते तर्हि - द्रोणपरिमितो व्रीहिरेव द्रोण इति शब्देनोच्यते तदा द्रोणशब्दात् प्रातिपदिकार्थे प्रथमा नैव भविष्यति । अतः सूत्रेऽस्मिन् परिमाणेति शब्दस्य संनिवेशः परमावश्यको दृश्यते । सूत्रे यदि परिमाणेति शब्दस्य ग्रहणं स्यात् तर्हि द्रोणो व्रीहिरिति वाक्ये द्रोणशब्दात् प्रयुज्यमाना प्रथमा परिच्छिद्यमाने व्रीहावभेदेन सम्बन्धेनान्विता भवति । ततश्च द्रोणरूपं यत् परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरिति लाक्षणिकोऽर्थबोधो जायते ।

2.2. अत कैयटमतेन सूत्रेऽस्मिन् प्रयुक्तं परिमाणेति पदं, भाषायां

---

6. पा. सू. 2.3.46

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

समुपलभ्यमानानां समेषां लक्ष्यार्थानां कृत उपलक्षणं भवति[७]। येन च गौर्वाहीकः, सिंहो माणवक इत्यादिषु प्रयोगेषु प्रथमोपपन्ना भविष्यति । अत्र गौरिति शब्दः गोसदृशं वाहीकं, सिंह इति शब्दश्च सिंहसदृशं माणवकञ्च बोधयतः । न्यासकारोऽपीदमेव भणितवान्। तद्यथा - परिमाणग्रहणञ्च यत्र निमित्ताद् अर्थान्तरे सोऽयमित्यभेदसम्बन्धाच्छब्दः प्रवर्तते, तदुपलक्षणार्थं वेदितव्यम्[८] । इत्थं परिमाणेत्युपलक्षणभूतेन शब्देन सादृश्यादिष्वर्थेष्वपि गोसिंहादिशब्देभ्यः प्रथमा चरितार्था भवति । लक्ष्यार्थानाम् अवबोधनाय प्रयुज्यमानेयं (विधीयमाना च) प्रथमेत्थं सूचयति यत् सूत्रकारः पाणिनिर्वाच्यार्थेष्वेव लक्ष्यार्थानां संनिवेशम् प्रदर्शयति ।

2.3. पाणिनेरन्यदपि सूत्रं विचारणीयमस्ति। तद्यथा अर्श आदिभ्योऽच्।[९] अत्र काशिकाकारो वृत्तिं वितनोति - अर्शस् इत्येवम् आदिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽच् प्रत्ययो भवति, मत्वर्थे इति । अर्श आदिगणे अर्शस्-उरस्-तुन्द-चतुर-पलित-जटा-घटा-अभ्र-कर्दम-आम-लवणादयः शब्दाः परिगणिताः । अर्शआदिस्त्वाकृतिगणः । तेन लोकेषु जटावान् इत्येतस्मिन्नर्थे जटा इति शब्दं प्रयुज्यमानं दृष्ट्वा, भगवता पाणिनिना जटा इत्येतस्माच् छब्दान् मतुबर्थेऽच् प्रत्ययो विधीयते । येन च, कोऽपि भाषको यद् जटाधारीति, तद्वान्नित्यर्थे जटेति शब्दस्य लाक्षणिकं प्रयोगं कर्तुं समीहते, तर्हि तादृशे प्रयोगे सूत्रेणानेनानुज्ञा प्रदीयते ।

ये प्रयोगा लक्षणामूलकाः सन्तीति, यद् अनुवर्तिनि काल उच्यते, तान् प्रति सूत्रकारस्य सूक्ष्मेक्षिका जागर्तितमाम्। परन्तु तादृशेषु प्रयोगेषु मतुपः श्रवणं विनाऽपि, तत्र मतुबर्थस्य प्रतीतिर्जायत इति सूत्रकारस्य कृते ध्यानास्पदमासीद्। यतो हि - सूत्रकारस्य समयावधौ लक्षणावृत्तेराविर्भावः; पार्थक्येन विचारो वा नैव विदितचरः । अतो जटावान्नित्यर्थे जटेति शब्दस्य प्रयोगं दृष्ट्वा तं तद्धितान्तरूपेण वर्णयित्वैव सूत्रकारो विरमति ।

7. प्रवृत्तिनिमित्तं मुख्यं तदाश्रयश्चेति द्वावेव प्रातिपदिकार्थशब्देनात्र - विवक्षितावत्यन्तरङ्गत्वात्। अतः परिमाणग्रहणं लक्ष्यार्थोपलक्षणमिति कैयटाशयमन्ये। 2.3.46 इत्यत्र व्याकरणमहाभाष्योपरिनागेशस्योद्द्योतः । - 'व्याकरणमहाभाष्यम्' (प्रथमो भागः) पृ. 514.

8. द्रष्टव्य - 'काशिकावृत्तिः' (न्यासपदमञ्जरीसहिता), द्वितीयो भागः, सं. द्वारिकादासः शास्त्री, प्रका. प्राच्यभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी, 1965 (पृ. 208)

9. पा. सू. पू. 2. 127

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

एवमेव काशिकाकारस्य षष्ठशताब्द्यामपि लक्षणाया विचारो स्पष्टतया नैव दृश्यते । येन अर्श आदिभ्योऽच्[10] इत्यत्र काशिकाकारो लिखति यद् – यत्राभिन्नरूपेण शब्देन तद्वतोऽभिधानं तत्सर्वमिह द्रष्टव्यम्[11] ।

2.4 पाणिनीयसूत्रे लक्षणाया अभावस्य तृतीयमपि प्रमाणं पुरस्क्रियते। तद्यथा – आधारोऽधिकरणम्[12] इत्यत्र त्रिविधस्याधारस्य समावेशो भवति । 1. तिलेषु तैलम् इत्यत्राभिव्यापकम् अधिकरणं दृश्यते । 2. देवदत्तः कट आस्त इत्यत्रौपश्लेषिकाधिकरणं वर्तते । 3. खे शकुनयः यद्वा मोक्ष इच्छाऽस्ति इत्यत्र च वैषयिकमधिकरणम् उच्यते । एतेषु वाक्येषु त्रिविधाधारवाचकेभ्यस्तिलादि-शब्देभ्यः सप्तमी विधीयते पूर्वोक्तेन सूत्रेण । किन्तु गङ्गायां घोषः, कूपे गर्गकुलम् इत्यादिषूदाहरणेषु दृश्यमानं चतुर्थप्रकारकं सामीप्यमूलकमधिकरणं कुत्र परिगणनीयम् तत्र च कथं (केन सूत्रेण) सप्तमी विभक्तिः प्रवर्तनीयेति प्रश्न आसीत् सूत्रकारस्य कृते ।

अत्र भाष्यकारो भणति यत् साधकतमम् करणम्[13] – इत्यत्र तमप्ग्रहणं कृत्वा सूचयत्याचार्यो यद् अस्मिन् कारकप्रकरणे तरतमभावो नाश्रीयते[14] । शब्दान्तरेणोच्यते तर्हि – अस्मिन् कारकप्रकरणे गौणमुख्यमूलकभावो नाश्रीयते । यतश्च यत्र गङ्गायां घोषः, कूपे गर्गकुलम् इत्यादिषु वाक्येषु साक्षादाधारो न स्यात् किन्तु गौणाधारः स्यात् तत्राप्यधिकरणसञ्ज्ञाम् पुरस्कृत्य, सप्तमी प्रवर्तते[15] । इत्थं त्रिविधादधिकरणाद् अतिरिक्तं सामीप्यमूलकं चतुर्थमप्यधिकरणं सप्तमीविभक्तेरर्थ-रूपेण प्राप्यते । अत्र गङ्गायामिति शब्दात् प्राप्यमाणः सामीप्यरूपाधिकरणात्मक-स्तीरादि-रूपोऽर्थः, पाणिनीय-व्याकरणे न तु लक्ष्यार्थरूपेणावगम्यते, परन्तु

---

10. पा. सू. 5.2.127

11. द्रष्टव्या – 'काशिकावृत्तिः' (न्यासपदमञ्जरीसहिता), चतुर्थो भागः, (पृ. 230)

12. पा. सू. 1.4.45

13. पा. सू. 1.4.42.

14. एवं तर्हि सिद्धे सति यत्तमप्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः– कारकसंज्ञायां तरतमयोगो न भवतीति । – 'व्याकरणमहाभाष्यम्' (प्रथमो भागः), (पृ. 259)

15. तदाधारमाचार्यः किं न्याय्यं मन्यते ? यत्र कृत्स्न आधारात्मा व्याप्तो भवति । तेनेहैव स्यात् – तिलेषु तैलं, दध्नि सर्पिरिति । गङ्गायां गावः, कूपे गर्गकुलमित्यत्र न स्यात् । कारकसंज्ञाया तरतमयोगो न भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति । – 'व्याकरणमहाभाष्यम्' (प्रथमो भागः), (पृ- 256).

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

तादृशोऽर्थस्तु वाच्यार्थरूपेणैव परिगण्यते । अर्थादिदं वक्तुं पार्यते यल्लक्ष्यार्थो वाच्यार्थकोटिमेव प्रविशतीति पाणिनेः मतम् । शब्दस्याप्रसिद्धायाः शक्तेः विलासोऽयं यद् गङ्गादिशब्देभ्यस्तीरादिरूपा अर्था अपि प्रादुर्भवन्ति । इदमेव मनसि निधाय वैयाकरणपुरन्दरेण नागेशेन लक्षयाणाः खण्डनं वितन्यते ।

३.०. वार्तिककारेणापि कृतः लक्षणाया अनुल्लेखः

3.1. भाषासु प्रयुज्यमानान् लाक्षणिकान् प्रयोगान् दृष्ट्वा यथा पाणिनिस्तान् सर्वान् वाच्यार्थे परिगणयति, तथैव वार्तिककारोऽपि पाणिनीयेनैव तन्त्रेण लक्षणामूलकान् शब्दप्रयोगान् साधयितुं वार्तिकमेकं विरचितवान् । तद्यथा – तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ।[१६] इत्यत्र गुणवचनेभ्यो मतुपो लुग् वक्तव्य इति वार्तिकं तेन प्रणीतम् । अनेन वार्तिकेन शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पट इत्युदाहरणं सिध्यति । अत्र शुक्लगुणवान् पट इति अभिधामूलके प्रयोगे प्राप्ते सति, भाषायां गुणगुणिनोः समवायसम्बन्धम् (अभेदसम्बन्धं) पर्य्यालोच्य शुक्लः पट इत्येव वाक्यं प्रयुज्यते । अत्र शुक्लेति गुणवाचकाच् छब्दान् मतुपः लुगादेशो वक्तव्य एव । अन्यथाः शुक्लः पट इत्यस्य लाक्षणिकस्य प्रयोगस्य साधुत्वं कथमपि न स्यात् । मतुपः लुग्विधानानन्तरं यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी इति न्यायेन शुक्ल इति शब्दः शुक्ल(गुण)वान् (पटः) इत्यर्थबोधनाय समर्थो भवतीति पाणिनीयसमयः । वार्तिककाराणां कालेऽपि (300 ई.पूर्वे.) लक्षणाया विचारो नैव प्रचलितः स्यादिति पूर्वोक्ताद् वार्तिकात् प्रतिभाति । अतः शुक्लः पटः इत्येतादृशाः लाक्षणिकाः प्रयोगाः कथं पाणिनीयेन तन्त्रेण साधवो भवेयुरित्येस्यां दिशि प्रयत्नो विहितः, पूर्वोक्तञ्च वार्तिकं पुरस्कृतम् ।

3.2. अस्य वार्तिकस्य सामर्थ्यादुत्तरवर्तिनि काले नागेशादयो वैयाकरणा नीलो घट इत्यत्र लक्षणां नाङ्गीकुर्वन्ति । अत्र नीलपदात् गुणवचनेभ्यो मतुपो लुग् वक्तव्य इति वार्तिकेन मतुपः लुग् भूत इति विचिन्त्य, यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायीति न्यायेन नीलपदान् नीलवान् इत्यस्य प्रतीतिर्जायत इति ते वदन्ति । अतो लक्षणाया नास्ति काप्यावश्यकतेति तेषां मतम् ।

4.0 **उपसंहारः** पाणिन्यादिमुनित्रयाणां सूत्रादिषु लक्षयाणा अत्यन्ताभावो दृश्यत इत्युच्यमाने विशेषत इदमप्यवधेयम् यद् –

---

16. पा. सू. पृ. 2. 64.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

4.1 पाणिन्यादिमुनित्रयाणां काले भाषायां लाक्षणिकाः प्रयोगा नैवासन्निति केनापि वक्तुं न पार्यते ।

4.2 पतञ्जलिस्तु पुंयोगादाख्यायाम्[१७] इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्यानावसरे मञ्चा हसन्तीत्यादीन् प्रयोगान् दृष्ट्वा, कथं अतस्मिन् सः इति प्रतीतिर्भवति तदपि विशदीकरोति [१८]। परन्त्वेतादृश्यां प्रतीतौ लक्षणेति नाम्नी कापि स्वतन्त्रशब्दवृत्तिः प्रवर्तत इति पारिभाषिकशब्दावली तत्र नास्ति ।

4.3 यद्यपि मुनित्रयाणां कालेऽपि लाक्षणिकाः प्रयोगा आसन् । तथापि व्याकरणशास्त्रे लक्षणाया अस्वीकारे किं बीजम् इति विचार्यमाणे प्रातिपदिकार्थ-लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा[१९] इत्यादीनि पूर्वोक्तानि सूत्राणि दृष्टिपथमायान्ति। अत परिमाणेत्युपलक्षणभूतेन शब्देन सर्वेषां लक्ष्यार्थानां वाच्यार्थकोटौ समावेशो मुनित्रयैरभिलषितः स्यादिति पाणिनीया मन्वते ।

4.4 अतो नागेशादयः परवर्तिनि काले लक्षणां नाङ्गीकुर्वन्ति । जघन्य-वृत्तित्वेन च तां तिरस्कुर्वन्ति । यद्यपि लक्षणाया अस्वीकारेऽपि, शब्दान्तरेण तैः स्वीकार एव क्रियते तदपि ध्यानास्पदम् । यतो हि - अभिधां द्विधा विभज्य शब्दस्याप्रसिद्धशक्तौ लक्षणायाः समावेशस्तेषां कृतेऽप्यनिवार्यो दृश्यते ।

4.5 अत्र समाधिरुच्यते - पूर्वाचार्याः पाणिनि-कात्यायनपतञ्जल्यादयो-ऽमुख्यार्थस्य गौणार्थस्य यद्वोपचरितार्थस्यावबोधने कुण्ठितमतयो नैवासन् । किन्तु तैरमुख्या वृत्तिर्लक्षणा वृत्तिर्गौणीवृत्तिर्वेति शब्देन पृथक्तया तस्या निर्देशो न कृतः। यतो हि - योऽमुख्यार्थो दृश्यते, सोऽपि तद्योगेन (मुख्यार्थयोगेनैव) प्रवर्तते भाषायाम्; अतस्तैर्लक्षणावृत्तेरभिधायामेवान्तर्भावो विचारितः । मीमांसक-दर्शनेऽपि लक्षणा मुख्यावृत्तेः पुच्छभूतास्तीति शब्देन साऽगतिकतयाऽपि स्वीकृता दृश्यते । तत्रापि इदमेव दर्शनं विलसतितमाम् ।

—x—

17. पा. सू. 4.1. 48

18. चतुर्भि प्रकारैस्तस्मिन् 'सः' इत्येतद्भवति । - तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्याद्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यादिति । तात्स्थ्यात्तावत् मञ्चा हसन्ति, गिरिर्दह्यते । तत्सामीप्याद् - गङ्गायां घोषः, कूपे गर्गकुलम् । ... ... । 'व्याकरणमहाभाष्यम्' (द्वितीयो भागः) (पृ. 327).

19. पा. सू. 2.3.46

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

6

व्यवस्थितविभाषायाः स्वरूपं प्रयोजनञ्च

०.० - भूमिका - पाणिनेरष्टाध्याय्यां वा-विभाषाऽन्यतरस्याम् इत्येतैः शब्दैर्भाषायां प्रयुज्यमानानां वैकल्पिकरूपाणां साधनिका प्रदर्शिता वर्तते । तत्र नास्ति व्यवस्थितविभाषायाः समुल्लेखः । व्यवस्थितविभाषाया निर्देशः प्रथमतो व्याकरणमहाभाष्य एव दृश्यते ।[1] 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' (7-1-41) इत्यत्र भाष्ये -

"देवात्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः ।
मिथ्यस्ते न विभाषन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥"

इत्येकाऽऽगमप्राप्तकारिकाऽपि समुद्धृता समुपलभ्यते । अस्यां कारिकायां व्यवस्थितविभाषायाः षड् उदाहरणानि प्राप्यन्ते । अत्र कैयटो लिखति यद्-एतस्योदाहरणं न व्यवस्थितविभाषाणां परिगणनम्, अन्यासामपि सम्भवात् ।[2] अत एव काशिका-कौमुद्योः वृत्तिग्रन्थयोर्नैकेषु सूत्रेषु व्यवस्थितविभाषाया आश्रयणं कृतम् इत दरीदृश्यते ।

अत्र व्यवस्थितविभाषाया लक्षणमधिकृत्य प्रथमं काचिद् विचारणा भवितुमर्हतीति प्रतीयते । तदनन्तरं, केषु स्थलेषु व्यवस्थितविभाषा प्रयुज्यते; अथवा कं लाभमभिलक्ष्य व्यवस्थितविभाषायाः प्रयोगो भवति तदप्यन्वेषणीयम् ।

---

1. अजेर्व्यघञपोः (2-4-46), लटः शतृशानचौ, (3-2-124), एवं श्रीग्रामण्योश्छन्दसि (7-1-56) इत्यत्र व्याकरणमहाभाष्ये ।

2. द्रष्टव्यम् - व्याकरणमहाभाष्यम् (प्रदीपोद्द्योतसहितम्), प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, तृतीयो भागः, 1967, पृ. 258.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अस्याः चर्चायास्तृतीये सोपाने, व्यवस्थितविभाषायाः स्वीकरणे किं परमं सर्वोत्कृष्टं वा प्रयोजनं स्यात्तदपि स्पष्टीकर्तुं यत्नो विधेयः ।

न्यासपदमञ्जरीटीकयोः (7-4-41 इत्यत्र) व्यवस्थितविभाषाया लक्षणमेतादृशं पठ्यते - ''क्वचिन्नित्यं प्रवृत्तिः, क्वचिद् विकल्पेन, क्वचिन्नैव प्रवृत्तिरित्येवं विविधम् अवस्थिता विभाषा 'व्यवस्थितविभाषा' इति ।'' अपरतश्च पाणिनीय-व्याकरणपरम्परायां 'बहुलम्' इति शब्दस्य लक्षणमित्थं वितन्यते -

''क्वचित् प्रवृत्तिः, क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥''

'व्यवस्थितविभाषा' - 'बहुल' श्चेत्यनयोर्लक्षणयोर्मध्ये, ''बहुलम्'' इति शब्दस्य ''क्वचिद् अन्यदेव'' इत्यंश एव व्यावर्तकलक्षणं भवति; अर्थात् 'बहुल' शब्दस्य लक्षणविधायका अन्ये त्रयोऽप्यंशा व्यवस्थितविभाषाया लक्षणेन सह पूर्णतः साम्यं भजन्ते । अतो व्यवस्थितविभाषाया लक्षणनिर्धारणे, परम्परायां कीदृशो विकासक्रमो लक्ष्यते तदपि विभावयन्तु विद्वांसः । तद् यथा -

'व्यवस्थित-विभाषा' इत्यस्माच्छब्दाज्ज्ञायते यद् व्यवस्थितो मर्यादितः, सुनिश्चितो वा विषयप्रदेशो यस्याः, सा, तादृशी विभाषा 'व्यवस्थितविभाषा' इति वक्तुं पार्यते । एतादृशोऽर्थः, ''मिथस्ते न विभाष्यन्ते'' इति शब्दैरागमप्रास-कारिकायामपि तृतीये चरणे प्रकटरूपेणैव प्रतिष्ठितोऽवर्तत । महाभाष्यप्रदीपे कैयटेनास्य समीचीनं व्याख्यानं वितन्वता लिखितं यदेतस्मिन् विषये न विकल्प्यन्ते, किन्तु विषयभेदेन । अर्थात् - द्वे वैकल्पिकरूपे यदैकस्मिन्नेव विषये (एकस्मिन्नेवार्थे वा) न प्रवर्तेते; किन्तु तयोर्द्वयोर्विषयभेदो भिन्न एव स्यात्, तदा तादृशी विभाषा ''व्यवस्थितविभाषा'' इति पदेनोच्यते । किम् उदाहरणमिति चेत् 'गवाक्ष' इति शब्दो वातायनेऽर्थे रूढो वर्तते, प्राण्यङ्गेऽर्थे (अर्थात् 'गोः अक्षि' इत्येतस्मिन् अर्थे वाच्ये सति) 'गोऽक्षम्' इत्येव प्रयुज्यते ।

इत्थं प्रारम्भिके काले व्यवस्थितविभाषाया लक्षणे विषयभेदाद् रूपभेदः स्याद् इति मुख्याऽऽवश्यकता विद्योतते स्म । येन च 'व्यवस्थिविभाषा' इत्येतस्मिन् शब्दे विद्यमानस्य 'व्यवस्थित' इति शब्दस्य स्वारस्यं याथातथ्येन विलसद् आसीत् । परन्त्वनुगामिनि काले मुख्येयमावश्यकता ध्यानास्पदा नाभवत् ! अतो विविधम् अवस्थिता विभाषा 'व्यवस्थितविभाषा' इति व्याख्यानं पुरतोऽस्माकं

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

समागतम्। तथापि केन कारणेनैतादृशं नवीनं व्याख्यानं समागतं तदपि प्रदर्शनीयम्। काशिकाकौमुद्यादिवृत्तिकृद्भिः, तेषां टीकाकृद्भिश्च विषयभेदेन वैकल्पिकरूपाणां प्रयोगदर्शनाद् ऊर्ध्वं तृतीया परिष्ठितिरपि परिलक्षिता, सा च परिष्ठितिः कथं शास्त्रानुमोदिता स्यादिति समस्याऽऽसीत् तेषां पुरस्तात्।

उदाहरणमुखेनेदं स्पष्टीक्रियेत तर्हि – 'अचि विभाषा' (8-2-21) इत्यनेन सूत्रेण गृ निगरणे इति धातो रेफस्य लत्वं विकल्पेन भवति। परिणामतस्तस्माद् धातोः 'विष' इत्यर्थे 'गर' शब्दो निष्पाद्यते, प्राण्यङ्गे चार्थे 'गल' इति शब्दो निष्पाद्यते। किन्त्वेतस्माद् अर्थद्वयाद् अन्यत्र क्रियारूपेऽर्थे (भावार्थे) गरो गलश्चेति द्विविधं रूपं भवत्येव। एवमेव – 'अवङ्स्फोटायनस्य' (6-1-123) इत्येतेन सूत्रेण व्यवस्थितविभाषाम् उद्घोष्य, वातायनार्थे 'गवाक्षः', प्राण्यङ्गे च 'गोऽक्षम्' इति भवति, इति विषयविभागः प्रदर्श्यते।

परन्तु पूर्वोक्तसन्दर्भाभ्याम् अन्यत्रापि तृतीये सन्दर्भे, गो + अग्रम् इत्यस्मात् गवाग्रम्, गोऽग्रम् इति वैकल्पिकं रूपद्वयमपि संसाध्यते प्रयुज्यते। एतादृशीं त्रिविधां स्थितिं निभाल्य, 'व्यवस्थित' इति शब्दस्य 'मर्यादितः', 'सुनिश्चितो' वेत्यर्थं परित्यज्य, टीकाकृद्भिः विविधम् अवस्थिता विभाषा व्यवस्थितविभाषेति लक्षणम् लक्षितम्॥ एवं व्यवस्थितविभाषाया लक्षणविधाने दृश्यतेऽस्माभिः आनुक्रमिको विकासः।

1.0 – पूर्वमेवोक्तं यद् व्यवस्थितविभाषाया विभावोऽवधारणा वा मूलतोऽष्टाध्याय्यां नैवासीत्। किन्तु भाष्यतः प्रेरणापीयूषं निपीय वृत्तिकृद्भिरस्याः त्रिविधो विनियोगो विहितः। तद्यथा –

(क) द्वयोर्वैकल्पिकरूपयोः प्रयोगनिर्धारणम्

विकल्पविधायकेन सूत्रेण ययोर्वैकल्पिकयो रूपयोः सिद्धिर्भवति, तयोर्विषयविभागं निश्चेतुम् उद्घोषयितुं वा व्यवस्थितविभाषायाः समाश्रयणं क्रियते किन्तु विषयविभागस्य के प्रकाराः सन्ति? इति विचार्यमाणे, ते त्रिविधेषु प्रकारेषु विलसन्तीति बुध्यते। (1) अर्थानुसारि प्रयोगनिर्धारणम्, (2) संहितारूपं छान्दसं साहित्यं, तथा ब्राह्मणग्रन्थादिरूपं छान्दसं साहित्यम्; अथवा वैदिकलौकिक-योर्विभाजने विलसत् प्रयोगवैविध्यम्; (3) तथा च – अमुकेषु धातुषु दृश्यमानं ध्वनिपरिवर्तनं, तद्भिन्नेषु च धातुष्वन्यथैव ध्वनिपरिवर्तनं भवतीत्येवं रूपं

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

प्रयोगनिर्धारणम् उद्घोष्यते ।

(ख) द्वितीयो विनियोगः

विधिसूत्रेषु प्रस्तावितानां वार्तिकानां परिहाराय वृत्तिकृद्भिः नैकत्र व्यवस्थितविभाषा पुरस्कृता परिलक्ष्यते । तद्यथा – 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (8-4-45) इत्यत्र कात्यायनो भणति यद् 'यरोऽनुनासिके प्रत्यये भाषायां नित्यवचनं कर्तव्यम्' येन च 'वाङ्मयम्' – 'चिन्मयम्' इत्यादिकं सिद्धं भवति । अत्र मयडिति प्रत्यये परे यरः नित्यम् अनुनासिकत्वं भवति । किन्तु काशिकाकारेण कथितं यदत्र 'व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात्' सिद्धम् । अर्थात् नास्त्यत्र वार्तिकस्य काऽपि स्वल्पाप्यावश्यकता । व्यवस्थितविभाषायामाश्रितायामेव द्विविधा व्यवस्था संप्राप्यत एव । तद्यथा – (1) प्रत्ययभिन्नेऽनुनासिके वर्णे परे यरो वैकल्पिकमनुनासिकत्वं भवति; एतन्मुरारिः-एतद्मुरारिः । (2) अन्यत्र, अर्थात् प्रत्ययस्यानुनासिके वर्णे स्थिते परोऽनुनासिकत्वं नित्यं भवति; 'वाङ्मयम्' इति, चिन्मयमिति च ।

(ग) तृतीयो विनियोगः

सूत्रकारपुरस्कृतां व्यवस्थां ये प्रयोगा नानुसरन्ति, तान् प्रयोगान् दृष्ट्वा, दूरतोऽपि मण्डूकप्लुत्या विकल्पस्यानुवृत्तिमाकृष्य, ताञ्च व्यवस्थितविभाषात्वे-नोद्घोष्य, येऽसाधवः प्रयोगा दृष्टिपथं समागताः स्युः, तेषां साधुत्वबोधनं प्रदर्श्यते । इत्थं व्यवस्थितविभाषायास्त्रिविधो विनियोगः समुपलक्ष्यते वृत्तिग्रन्थेषु ।

2.0. – भाष्यकृद्भिः वृत्तिकृद्भिश्च यदा यदा व्यवस्थितविभाषाया आश्रयणं क्रियते, तदा तत्र तेषां कीदृशं तत्त्वदर्शनं स्यादिति विचार्यमाणे, इत्थं प्रतीयते यद् –

पाणिनिपुरस्कृतां प्रक्रियाम् अनुसृत्य कोऽपि वैयाकरणः केवलः लक्षणैकचक्षुः भवितुं नार्हति । यतो हि – स्वयं पाणिनिना 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (6-3-109) इत्यादिभिः सूत्रैः, स्वकीयप्रक्रियायाः विमुखीभूतानां प्रयोगाणामपि साधुत्वम् उद्घोष्यते; एवमेव महाभाष्यकारेण पतञ्जलिनापि यानीष्टिवचनानि समुच्चारितानि स्युः तानि संदृश्येत्थं संसूच्यते यल्लक्षणैकचक्षुष्केनापि वैयाकरणेन लक्ष्यैकचक्षुरपि भवितुम् अर्हति । अनेनैव पथा पाणिनीयं व्याकरणं स्वकीयं वर्णनात्मकस्वरूपं समग्रतया प्रकटीकरोति ।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अत एव, 'मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु' (2-3-17) इत्यत्र काशिकाकारो व्यवस्थितविभाषां स्वीकृत्य कथयति यद् - 'यथादर्शनं प्रयोगाः नेतव्याः' । अर्थात् यथालक्ष्यं प्रयोगा व्यवस्थितविभाषयोन्नेतव्याः । लक्ष्यमभिलक्ष्य व्यवहारदशाया विभिन्नाः प्रयोगाः, ये पाणिनेः प्रक्रियातो विमुखीभूताः सन्ति, तेषां व्यवस्थितविभाषया साधुत्वबोधनमवश्यमेव कर्तव्यम् । अस्तीदमेव तत्त्वदर्शनं व्यवस्थितविभाषाया उद्भावना प्रसङ्गे । इति शम् ।

—x—

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

7

सिद्धहेमशब्दानुशासने रूपाख्यानपद्धतिः

तत्रभवता नागेशभट्टेन परमलघुमञ्जूषायां भर्तृहरेरेकः श्लोकः समुद्धृतः। "उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया ह्यव्यवस्थिताः" इति। निरुक्तस्य टीकाकारेण दुर्गाचार्येणापि निर्दिष्टं यत्– "पाणिनीयाः भूप्रकृतिम् उपादाय लडित्येतं प्रत्यय-मुपाददते। तत कृतानुबन्धलोपस्थानकस्य लस्य स्थाने तिबादीन् आदिशन्ति।... अपरे पुनर्वैयाकरणा लटमकृत्वैव तिबादीनुपापददते।... तेषामपि हि शब्दानुशासने सा तन्त्रशीली॥" (निरुक्तम् 1-13, (सं.वी. के. राजवाडे, पूना, 1921 इत्यत्र दुर्गः, पृ. 74, 75) इत्थं पाणिनीयदर्शने एवेदं स्वीकृतं यद् उपेयरूपं किमपि साधुपदं साधयितुम् उपायवैविध्यं सर्वथा सर्वदा ग्राह्यमेव। अतो यानि चान्द्रादिव्याकरणान्तराणि प्रवृत्तानि तेषामुपेयरूपं साधुशब्दस्वरूपं कथं-केनोपायेन वा व्युत्पाद्यते, तस्योपायस्यैव तुलना करणीया। परंतु एतादृशैस्तुलनात्मकैरध्ययनैः "अस्मिन् व्याकरणतन्त्रे जटिलताऽस्ति, तस्मिन्, व्याकरणतन्त्रे सरलता वाऽस्ति" इति केचनाधुनिका जल्पन्ति। यदि सूक्ष्मेक्षिकया विचार्यते तर्हि कस्यचिदपि व्याकरणतन्त्रस्य परीक्षा जटिलतायाः सरलताया वा मानदण्डेन नैव विधेया। परन्तु तन्त्रकारस्य विषयानुक्रमः किं वाक्यसंस्कारपक्षमनुसरति, अहोस्वित् पदसंस्कार-पक्षमिति प्रथमं विचारणीम्। एवञ्च नामादिपदानां रूपाख्यानस्य या नूत्ना पद्धतिः केनापि वैयाकरणेनोद्भाव्यते सा किं समग्रे व्याकरणतन्त्र एकरूपैव प्रवर्तते न वेति समीक्षणीयम्। तथा चास्मिन् विषये तन्त्रकारस्य अथवा तद्वैयाकरणस्य कीदृशं सामर्थ्यं दृश्यते तदेव विचारणीयम्। अस्मद्व्याख्यानस्येयं

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

भूमिका ॥ अधुना विविच्यते श्रीहेमचन्द्राचार्याणां रूपाख्यानपद्धतिः ।

पाणिनिः स्वकीये व्याकरणतन्त्रे वाक्यसंस्कारपक्षं पुरस्कृत्य पदसिद्धिं वर्णयति । किन्तु हेमचन्द्राचार्यस्तु पदसंस्कारपक्षं समाश्रित्यैव नामपदानां क्रियापदानाञ्च रूपसिद्धिं प्रदर्शयति । अत्रादौ सिद्धहेमशब्दानुशासनस्य विषयानुक्रमः परीक्षणीयः । तद्यथा –

(1) शास्त्रारम्भे संस्कृतभाषायाः स्वर-व्यञ्जनवर्णयोः परिचयः ।
(2) नामपदे प्रयुज्यमानानां विभक्तीनां प्रथमादिसंज्ञाविधानाम् ।
(3) स्वरसन्धिर्व्यञ्जनसन्धिश्च ।
(4) नामपदस्य रूपाख्यानम् ।
(5) कारकसंज्ञास्तन्निमित्तकञ्च विभक्तिविधानम् ।
(6) सत्व-षत्व-णत्वादयो विधयः ।
(7) स्त्रीप्रत्ययविधिः ।
(8) उपसर्गसंज्ञा गतिसंज्ञा च ।
(9) समासविधिः ।
(10) क्रियापदस्य च रूपाख्यानम् ।
(11) कृदन्तप्रत्यया उणादिप्रत्ययाश्च ।
(12) तद्धितविधिः ।
(13) समासान्तविधिः द्वित्वविधिश्च । अन्ते-
(14) परिभाषासूत्राणि ॥

इत्थं सिद्धहेमशब्दानुशासनस्य सप्तस्वध्यायेषु, प्रथमं सन्धिकार्येषु यानि ध्वनिपरिवर्तनानि समापतन्ति, तेषां सूत्राणि प्रणीयन्ते । ततो नाम्नां प्रथमादिविभक्तिषु यानि रूपाणि श्रूयन्ते, तेषां रूपसिद्धिर्वर्णिता । ततस्तृतीये सोपाने विविधाः कारकसंज्ञाः विहिताः । अत्र सुस्पष्टरूपेण दृश्यते यत् कस्यामपि क्रियायां कारकरूपेण नामपदस्यान्वयोऽस्ति न वेति विचारणामकृत्वैव समेषां नामपदानां सिद्धिः प्रतिपाद्यते । यतो हि – ''वृक्षः, वृक्षेण, वृक्षाभ्याम्'' इत्यादीनि रूपाणि तु सिद्धहेशब्दानुशासने पूर्वमेव साध्यन्ते, तदनन्तरमेव प्रथमादिविभक्त्यन्तेभ्यः पदेभ्यः कस्य कारकार्थस्याभिव्यक्तिर्भवतीति निरूप्यते ।

सि. हे. शब्दानुशासनस्य प्रथमद्वितीययोरध्याययोः केषाञ्चन सूत्राणां परीक्षणेनैवेवं प्रतीयते । तद्यथा–

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

1. स्वौजसमौशस्टाभ्याम्भिस्ङेभ्यम्भ्यसूङसिभ्याम्भ्यसूङसोसामूङ्योस्सुपां त्रयी त्रयी प्रथमादिः (सि. हे. श. 1-1-18)
2. स्त्यादिर्विभक्तिः । 1-1-19
3. तदन्तं पदम् । 1-1-20
4. सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् । 1-1-26
5. अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम । 1-1-27

   इत्थं प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे, ''प्रथमादिः, पदम्, वाक्यम्, नामेति'' संज्ञा दर्श्यन्ते । ततः-
6. समानानां तेन दीर्घः । 1-2-1 इत्यतः
7. लि लौ । 1-3-64 इत्येतत्पर्यन्तं (=प्रथमाध्यायस्य द्वितीये तृतीये च पादे) सन्धिविधायकानां सूत्राणामुपन्यासः क्रियते । तदनन्तरम् -
8. अत आः स्यादौ जस्-भ्याम् ये । 1-4-1
9. भिस ऐस् । 1-4-2
10. एद् बहुस्भोसि । 1-4-4
11. टाङसोरिन् स्यौ । 1-4-5 इत्यतः
12. दृन्पुनर्वर्षाकारैर्भुवः । 2-1-59 इत्येतत्पर्यन्तेषु सूत्रेषु नामरूपप्रकृतेः परं, प्रथमादिविभक्तीनां सि-औ जस्' इत्यादीन् प्रत्ययान् संयोज्य, तत्र विविधां प्रकृतिमनुलक्ष्य तेषु प्रत्ययेषु कीदृशानि परिवर्तनानि विधेयानीत्येतस्य निरूपणं क्रियते । ततः-
13. नाम्नो नोऽनह्नः । 2-1-91
14. नामन्त्र्ये । 2-1-92...101 एतैः सूत्रैः 'सि' इत्यादिषु प्रत्ययेषु परेषु सत्सु नामप्रकृतौ कीदृशं परिवर्तनं करणीयं तत्प्रतिपाद्यते । एतेषां सूत्राणां (1-4 इत्यतः 2-1 इत्येतत्पर्यन्तं) प्रवर्तनेन संस्कृतभाषायाः सर्वाणि नामपदानि संसाध्यन्ते ॥

    अथ नामपदानां वर्णनावसाने जाते -
15. क्रियाहेतुः कारकम् । 2-2-1
16. नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ । 2-2-31
17. गौणात् समयानिकषाहाधिगन्तराऽन्तरेणाऽतियेनतेनैर्द्वितीया । 2-2-33....120

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

इत्येतैः सूत्रैः कारकसंज्ञास्तन्निमित्तकाश्च विविधाः प्रत्ययाः विधीयन्ते। इत्थं तत्रभवतो हेमचन्द्राचार्यस्य व्याकरणतन्त्रे क्रियापदमविगणय्य, अथवा समग्रस्यापि वाक्यस्य सन्दर्भम् अध्यात्वैव, अर्थतः क्रियान्वयराहित्येऽपि ''रामः, काष्ठैः, वृक्षे'' इत्यादीनां कारकाणां रूपाणि साध्यन्ते। इदमेव शब्दान्तरेण विविच्यते यत् (क) वक्तुर्विवक्षितार्थं प्रकटयितुं का विभक्तिः प्रभवति, तदज्ञात्वैव नामपदस्य सिद्धिः क्रियते। (ख) एवञ्च कस्यचन नामपदस्यान्वयः केनान्येन पदेन, उत वा केन क्रियापदेन सह स्यादिति आकाङ्क्षाऽपि नोत्थाप्यते। केवलं यदृच्छयैव निर्णीयते यत् वक्ता किमपि विशिष्टं विभक्त्यन्तं पदं साधयितुमिच्छति। अतो हेमचन्द्राचार्याः ''वृक्षः, श्रमणः'' इत्यादीनि रूपाणि कथं व्युत्पाद्यन्त इति सि. हे. शब्दानुशासने प्रथमं निरूपयन्ति। तदनन्तरमेव कारकविभक्त्यादीनां सूत्राण्युपन्यसन्ति। एवमेव, युष्मदादिपदैः सह क्रियापदस्य तिबादि-प्रत्ययस्य वा सामानाधिकरण्यम् आवश्यकं न वेति निर्देशम् अकृत्वैव सर्वैषामपि क्रियापदानां रूपसिद्धीः प्रदर्शयन्ति। तेनानुमीयते यत् सि. हे. शब्दानुशासने पदसंस्कारपक्ष एवोपस्थापितः ॥

अधुना पदनिष्पादकतन्त्ररूपेण सि. हे. शब्दानुशासनस्य परीक्षणं क्रियते। पूर्वमेवोक्तं यत् हेमचन्द्राचार्याः पदसंस्कारपक्षं समाश्रित्यैव नामपदानां क्रियापदानाञ्च रूपसिद्धीः प्रदर्शयन्ति। एतेषां पदानां रूपसिद्धौ तैर्या पद्धतिरुपस्थापिता सा नैकविधा। तद्यथा-नामपदस्य रूपसिद्धौ प्रथमं सामान्येन प्रत्ययरूपेणैकं रूपघटकं प्रदर्श्य, तदनन्तरं तस्य विविधा उपरूपघटका निरूपिताः। परन्तु क्रियापदस्य रूपसिद्धावन्यैव पद्धतिः स्वीकृता।

उदाह्रियते समीक्षणमिदम् - सि. हे. श. शासने 'स्यौजसमौ०'' इति (1-1-18) सूत्रेण य एकविंशतिप्रत्यया विहितास्तानेव पश्यन्तु श्रीमन्तो विद्वांसः।

एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
प्रथमा-सि (स्)	औ	जस् (अस्)
द्वितीया-अम्	औ	शस् (अस्)
तृतीया-टा(आ)	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी-ङे (ए)	भ्याम्	भ्यस्
पञ्चमी-ङसि (अस्)	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी-ङस् (अस्)	ओस्	आम्
सप्तमी-ङि (इ)	ओस्	सुप् (सु)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

नामप्रकृतेः परं प्रवर्तमाना एते प्रत्ययाः सामान्यस्वरूपेण रूपघटकाः सन्ति । ततः कस्यचिदपि नामपदस्य रूपाणि साधयितुं हेमचन्द्राचार्यैः नाम्नः प्रकृतिवैविध्यमनुलक्ष्य एतेषां रूपघटकानां स्थाने विभिन्ना उपरूपघटका वर्णिताः । तद्यथा -

चतुर्थीविभक्त्या एकवचनस्य 'ङे'(ए) इति मुख्यो रूपघटकः (प्रत्ययः) ।-तस्य सि.हे.श. शासने ये षड् उपरूपघटकास्ते -

१	२	३	४	५	६
/—य/ प्रकृति ह्रस्वाका-रान्ता	/—स्मै/ सर्वादिगणस्य शब्दाः	/—यै/ स्त्रीलिंगे दीर्घाकारा-न्ता शब्दाः	/—स्यै/ सर्वादिगणस्य दीर्घाकारान्ता शब्दाः	/—ए/ उ/इ-कारान्ताः शब्दाः	/—ऐ/ स्त्रीलिङ्गे ह्रस्वेकारो कारान्ताः दीर्घेकारो-कारान्ताः
रूपाणि रामाय ज्ञानाय	सर्वस्मै	मालायै	सर्वस्यै	मुनये साधवे	बुद्ध्यै, धेन्वै नद्यै, चम्वै
विधिसूत्रम् 1-4-6 ङेङस्योर्यातौ ।	1-4-7 सर्वादेः स्मैस्मातौ ।	1-4-17 आपो ङितां यै यास् यास्-याम् ।	1-4-18 सर्वादेर्डस् पूर्वाः ।	1-4-23 ङित्यदिति	1-4-28 1-4-29 स्त्रियां ङितां बा दैदास् दास्-दाम् । 28 स्त्रीःदूतः ।29

इत्थं नाम्नो रूपाणि साधयितुं प्रथमं सामान्येन प्रत्ययरूपेणैकं रूपघटकं प्रदर्श्य, तदनन्तरं नाम्नः प्रकृत्याः वा वैविध्यमनुलक्ष्य तस्य मुख्यरूपघटकस्य स्थानेऽन्ये उपरूघटकाः (आदेशरूपेण) प्रदर्श्यन्ते । यद्यपि महर्षिणा पाणिनिनैव रूपाख्यानस्य शैलीयं स्वकीयामष्टाध्याय्यां पुरस्कृताऽऽसीत् । एवञ्च नामपदानि क्रियापदानि च साधयितुं तस्याः पद्धतेः सर्वत्र समानं साद्यन्तञ्च परिपालनं कृतम् । किंतु हेमचन्द्राचार्यैः या शैली स्वीकृता तदनुसारं तेषामपीदमभिमतं यत्

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

प्रथमं सामान्येन प्रत्यरूपेणैकं रूपघटकं प्रदर्श्य, तस्य स्थाने उपरूपघटका सूत्रान्तरैः प्रदर्शनीयाः । किंतु सूक्ष्मेक्षिकया विचार्यमाणे हेमचन्द्राचार्यैः तस्याः (पद्धत्याः) साद्यन्तं समानं परिपालनं कर्तुं न पारितमिति प्रतिभाति । यतो हि तैः सि. हे. श. शासने क्रियापदस्य रूपसिद्धावन्यैव पद्धतिः स्वीकृता । तत्र वर्तमानादिकालवाचकानां क्रियापदानां रूपसिद्ध्यर्थम् अशीत्युत्तरैकशतप्रत्यया एव मुख्यरूपघटकरूपेणो-द्घोषिताः । तेन च क्रियावाचकानां धातूनां विविधेषु कालेषु चार्थेषु च यानि रूपाणि श्रूयन्ते तेषां सर्वेषां रूपसिद्ध्यर्थम् उपर्युक्ता पद्धतिः हेमचन्द्राचार्यैः परित्यक्ता । सि. हे. शासनस्याधोवर्णितैः दशसूत्रैः कालवाचकानामर्थवाचकानाम् अशीत्युत्तरैकशतप्रत्ययाः पृथग्रूपेण निर्दिष्टाः । तद्यथा –

(क) वर्तमाना–तिव् तस् अन्ति, सिव् थस् थ, मिव्, वस् मस्, ते–आते अन्ते, से आथे ध्वे, ए वहे महे । 3–3–6

(ख) सप्तमी–यात्याताम्युस्, यास्यातम्यात, याम यावयाम्; ईत ईयाताम् ईरन्, ईथाम् ईयाथाम् ईध्वम्, ईव ईवहि ईमहि । 3–3–7

(ग) पञ्चमी–तुव्तामन्तु, हि तम् त, आनिव् आवव् आमव्, ताम् आताम् अन्ताम् स्व आथाम् ध्वम्, ऐव, आवहैव् आमहैव् । 8

(घ) ह्यस्तनी–दिव् ताम् अन्, सिव् तम् त, अम्व्, व म, त आताम् अन्त, थास् अथाम् ध्वम्, इ–वहि–महि । 3–3–9

(ङ) अद्यतनी–दिताम्अन्, सितमत्, अम्वम्, त आताम् अन्त, थास् आथाम्ध्वम्, इ–वहि–महि । 3–3–11

(च) परोक्षा–णव् अतुस्, उस्, थव् अथुस् अ, णव्वम्, ए आते इरे, से आथे ध्वे, ए वहे महे । 3–3–12

(छ) आशीः–क्यात्क्यास्ताम्क्यासुस्, क्यास् क्यास्तम्क्यास्त, क्यासम्क्या-स्वक्यास्म, सीष्ठसीयास्ताम्सीरन् सीष्ठास् सीयास्थाम् सीध्वम्, सीय सीवहि सीमहि । 3–3–13

(ज) श्वस्तनी–तातारौतारस्, तासितास्थस्तास्थ, तास्मि तास्वस् – तास्मस्, तातारौतारस्, तासेतासाथे ताध्वे, ताहेतास्वहे–तास्महे । 3–3–14

(झ) भविष्यन्ती – स्यतिस्यतस्स्यन्ति, स्यसिस्यथस् स्यथ, स्यामिस्यावस्स्यामस

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

स्यते स्येते स्यन्ते, स्यसे स्येथे स्यध्वे, स्ये स्यावहे, स्यामहे । 3-3-15

(ञ) क्रियातिपत्ति-स्यत्स्यताम्स्यन्, स्यस्स्यतम्स्यत, स्यम् स्याव स्याम स्यतस्येताम् स्यन्त, स्यथास्स्येथाम् स्यध्वम्, स्ये स्यावहि, स्यामहि । 3-3-16

अत्र पाणिनिना त्वष्टाध्याय्यां नाम्नो रूपाणि साधयितुं या पद्धतिः पुरस्कृता सैव पद्धतिः दशलकारेषु धातुसाधितक्रियापदरूपाणि साधयितुं स्वीकृता । यथा नामपदस्य रूपसिद्ध्यर्थं 'स्वौजसमौट्' । पा. सू. 4-1-2 इत्येकेन सूत्रेण मुख्यरूपघटकप्रत्ययाः प्रदर्शितास्तथैव क्रियापदस्य रूपसिद्ध्यर्थमपि ''तिप्तसझि० । पा. सू. 3-4-78 इत्येकेनैव सूत्रेण मुख्यरूपघटका उद्घोषिताः । ततो धातुवैविध्यं निरीक्ष्य तेषां मुख्यरूपघटकानां स्थानेऽन्ये उपरूपघटका (आदेशरूपेण) वर्णिताः । तद्यथा- (पाणिनीयव्याकरणतन्त्रे)

'झि' प्रत्ययः (मुख्यरूपघटकः) तस्य षड् उपरूपघटकाः - यथा

१	२	३	४	५	६
झ् > अन्त् इ-अन्ति | भवन्ति भविष्यन्ति | झोऽन्तः पा. सू. 7-1-3	झि > उस् | बभुवुः | परस्मैपदानां णलतुसुस् थलथुसणल वमाः । 3-4-88	झि > रस् | भवितारः | लुटः प्रथमस्य डारौरसः । 3-4-85	झि > अन्त +इ-उ =अन्तु | भवन्तु | एरुः । 3-4-86	झि > अन् | अभवन् अभूवन् अभविष्यन् | इतश्च । 3-4-100	झि > जुस् उस) | भवेयुः भूयासुः | झेर्जुस् । 3-4-108

परंतु हेमचन्द्राचार्यैः क्रियापदस्य रूपसिद्ध्यर्थमन्यैव गौरवग्रस्ता पद्धतिः स्वीकृता । एतैः सर्वेषु वर्तमानादिकालेषु क्रियारूपाणि साधयितुं प्रथमपुरुषस्य बहुत्वविवक्षायां दशैव मुख्यरूपघटका वर्ण्यन्ते । तद्यथा -

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

(1) अन्ति (3-3-6)
(2) युस् (3-3-7)
(3) अन्तु (3-3-8)
(4) अन् (3-3-9)
(5) अन् (3-3-11)
(6) उस् (3-3-12)
(7) क्यासुस् (यासुस्) (3-3-13)
(8) तारस् (3-3-14)
(9) स्यन्ति (3-3-14)
(10) स्यन् (3-3-16)

अनेन विवेचनेनेदं प्रतिपाद्यते यत् सि. हे. शासने हेमचन्द्राचार्यैः नामपदानां क्रियापदानाञ्च रूपाख्यानस्य या पद्धतिरुद्भाविता सा नैकविधा गौरवग्रस्ता च ॥

अथोपसंह्रियते–वाग्व्यवहारकाले वक्तुर्मनसि स्वकीयं विवक्षितार्थं प्रकटयितुं प्रथमं यन्निर्मीयते तद्वाक्यमेव । अतः कस्मिन्नपि व्याकरणतन्त्रे वाक्यसंस्कार-पक्षमाश्रित्यैव विषयानुक्रमो भवितुमर्हति । एवञ्च "उपेयप्रतिपत्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः" इति न्यायेनोपायवैविध्यस्य स्वीकरणेऽपि रूपाख्यानस्य पद्धतिरपि एकरूपैव स्यादित्यपेक्ष्यते । किन्तु सि. हे. शासने वक्तुः कृते योऽस्वाभाविक इव भाति तादृशपदसंस्कारपक्षस्य समाश्रयणं क्रियते । तथा चातीव गौरवग्रस्ता नैकरूपा च रूपाख्यानपद्धतिः तिङन्तपदानां सिद्धौ प्रदर्श्यते । इति दिक् ॥*

---

* संस्कृत विभाग, गुजरात युनिवर्सिटीति गुजरात साहित्य अकादमीति संस्थया चाऽऽयोजिते "आचार्य हेमचन्द्रपरिसंवादे (January 19-20, 1989) प्रस्तुतमिदं शोधपत्रम् ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

8

संस्कृत-वाक्यसंरचना

यदि कामपि नूत्नां भाषामधिगन्तुमभिलषेत् तर्हि तस्य भाषायाश्चतुर्विधैरं-शैरभ्यासो भवितुम् अर्हति । तद्यथा -

(1) वर्णध्वनयः (2) पदानि-सुबन्तम् तिङन्तम् (3) वाक्यम्	साधनानि
(4) अर्थश्च	साध्यः (प्रत्याय्यः)

संस्कृतभाषायाः पठनपाठनावसरे प्रथमं तावत् वर्णसमाम्नायं पाठयित्वा संस्कृतभाषायाः के के शिष्टमान्या वर्णध्वनयः सन्ति, तेषां शिक्षा प्रदीयते । तदनन्तरं शब्दरूपावलिं धातुरूपावलिञ्च कण्ठीकर्तुमाज्ञाप्यन्ते शिष्याः । रूपावलिभ्यां सह कदाचिद् अमरकोशोऽप्यध्याप्यते । इत्थं प्रारम्भे संस्कृतभाषाया वर्णध्वनयः, पदानि, कोशतश्च शब्दार्था उपदिश्यन्ते । परन्तु 'वाक्यं' नाम किम्, तच्च कथं सिध्यति इति नैव निरूप्यते । कारकचक्रमपि चेत् पाठ्यक्रमे, तदा तदपि केवलं विभक्त्यार्थान् विशदीकरोति । तेन वाक्यस्य संरचना नैवोद्घाट्यते । अतः संस्कृतभाषाया ज्ञातेष्वपि वर्णध्वनिषु, कण्ठीकृतेष्वपि नामपदेषु क्रियापदेषु च, समधिगतेषु च शब्दार्थेषु, वाक्यं नाम कथं सम्पादनीयमिति प्रश्नः शूलीभूय छात्रशिरसि विजृम्भते ।

अत वाक्यस्य संरचना कथं भवेद् वाक्यस्य वा स्वरूपं कीदृशं स्यादिति प्रतिपादयितुं प्रस्तूयते पत्रमिदम् । जगति नैके पदार्थाः सन्ति । तद्यथा

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

– गौः, शकुनिः, पर्वतः, नदी, वनम्, स्थाली, कुठारः, काष्ठम्, रामः सीतेत्यादयो जडचेतनोभयविधा पदार्थाः वर्तन्ते। परन्तु तेषां केवलं नामसङ्कीर्तनेन कदापि कथमपि व्यवहारो भवितुं नार्हति ॥

तत्तु सत्यं यद् यदि कोऽपि जनो मां पृच्छति – **कोऽयं पुरुषः ?** तदाहं – **स एष दाशरथी रामः, यद्वा स एष राजा युधिष्ठिरः** इति केवलं प्रथमान्तपदात्मिकाम् उक्तिं वच्मि। किन्तु प्रथमान्तपदैरस्माकं सम्भाषणं परिसमाप्तिं नैव प्राप्नोति । प्रत्युत प्रथमान्तैः पदैः जगतो वस्तुनः स्वभावं ज्ञात्वा (परिचयमधिगम्य) वयन्तु तैर्वस्तुभिः किं कार्यं साधितमिति कथनायास्माकं सम्भाषणमग्रे प्रचालयामः। शब्दान्तरेण कथयेत्तर्हि जगतः पदार्थास्तु सिद्धा एव, तैः किं साध्यं, सम्पादनीयं साधितं वेति निरूपणमावश्यकम् । अर्थात् नदी, पर्वतः, रामः, वनम्, इत्यादिभिः (कारकैः) कापि क्रिया साध्या वर्तते । अत्र सिद्धपदार्थास्तूपकारकाः सन्ति, क्रिया चोपकार्याऽऽस्ते । सम्भाषणे यावत्पर्यन्तं क्रियापदं नोच्चार्यते तावत्पर्यन्तं वाक्यमपि नैव सम्पाद्यते। वाक्यं नाम क्रियात्मकं भवति । अत एव 'व्याकरण-महाभाष्ये (2-1-1) ''एकतिङ् वाक्यम्' इति लक्षणं विधीयते। भवन्तः सर्वेऽपि जानन्ति यद् 'पश्य,' 'गच्छ', 'ब्रूहि ब्रूहि,' 'उत्तिष्ठ' – इत्यादीनि तिङन्तपदानि किमप्यन्यन्नामपदमनपेक्ष्यैव सम्पूर्णं वाक्यार्थमवगमयन्ति । अतस्तानि न केवलं पदानि सन्ति, परन्तु तानि सर्वाणि तु वाक्यानि एव ।

इत्थं वाक्यस्य केन्द्रस्थाने प्राथम्येन क्रियापदं विराजते । अथ द्वितीये स्तरे, तस्मिन् क्रियात्मके वाक्ये किं किम् अन्तर्निहितं स्यादित्यपि गवेषणीयम्। न हि कापि क्रिया निराधारा भवति। क्रियामात्रस्य कृते स्थलकालात्मकमधिकरणम् अनिवार्यम्। यतो हि – स्थलकालात्मकेऽधिकरण एव सर्वाः क्रियाः प्रादुर्भवन्ति। न्यायशास्त्रेऽपि निरूपितं वर्तते यद् – **जन्यानां जनकः कालो, जगतामाश्रयो मतः** इति । '(सीता) पचति' इति वाक्यं श्रूयते, तदा जिज्ञासितव्यमिदं यत् (सा) कुत्र पचति इति । अर्थात् कस्मिन् स्थले पचनं भवति, कस्मिंश्च काले पचनं भवतीति । अतो यदोच्यते – **(सीता) महानसे प्रातःकाले पचति** इति तदा पचनक्रियायाः स्थलकालात्मकं नित्यमधिकरणं स्फुटीभवति । ततश्च सा पचनक्रिया किं स्वयमेव भवति वा तस्याः क्रियाया निर्वर्तकः कारकसमूहोऽपि वर्तते इति प्रदर्शनायान्यानि विभक्त्यन्तानि नामपदानि प्रयुज्यन्ते । तद्यथा –

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

[सीता अग्निना स्थाल्यां तण्डुलान्] महानसे, प्रातः काले, पचति (कारकचक्रम्) । अर्थात् वाक्यस्य संरचनायां द्वितीये स्तरे, स्थलकालात्मकमधिकरणमेव कारकसमूहश्च प्रविशतः । चित्राकारेण यदीदं प्रदर्श्यन्ते तर्हि –

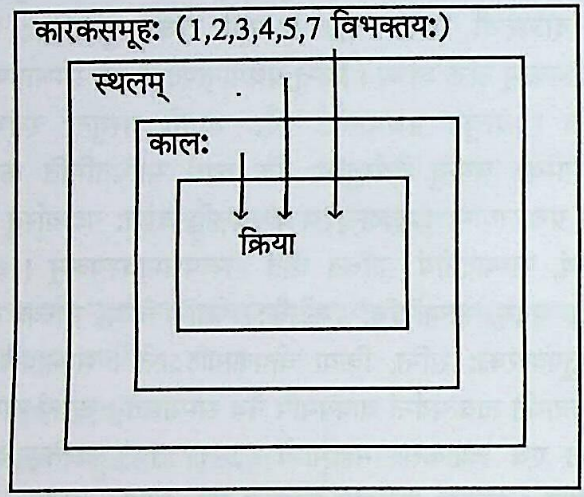

उदाहरणं पृथक् क्रियेत तर्हि –

कारकसमूहः	स्थलम्	कालः	क्रिया
सीता तण्डुलान् अग्निना स्थाल्याम्	महानसे	प्रातःकाले	पचति

सिंहावलोकनन्यायेन यदि कथयेत्तर्हि – (1) स्थलरूपेण 'महानसः' का नरूपेण च 'प्रातःकाल' पचनरूपां क्रियामुपकरोति । यतो हि – 'स्थलम्' कालश्च साध्यरूपायाः क्रियाया निस्संदेहं शाश्वतमधिकरणमास्ते । (2) एवञ्च 'सीता' कर्तृकारकरूपेणान्यानि क्रियानिर्वर्तकानि साधनान्येकीकृत्य पचनक्रियां साधयति । तण्डुलाश्च पचनक्रियायाः विक्लित्यादिकस्य फलस्याश्रया भूत्वा तां क्रियामुपकुर्वन्ति । अग्निश्च यदि प्रकृष्टोपकारककरणरूपेण न स्यात्तर्हि पचनक्रियैव

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

न भवेत्। अतः सोऽग्निः करणत्वेन क्रियामुपकरोति। स्थाली च कर्मकारकभूतान् तण्डुलान् धृत्वा परोक्षरूपेण क्रियामुपकरोति। अत्र स्थाली-महानसयोः को विशेष इति प्रश्नोऽपि विचारणीयः। अत्र स्थालीरूपमधिकरणं केवलं तण्डुलेभ्य आधारं प्रददाति, परं महानसस्तु सर्वस्यापि कारकचक्रस्य कृते भवत्याधारः। अतो महानसस्तु स्थलरूपं शाश्वतमधिकरणं कथयितुं पार्यते ॥

संस्कृतवाक्यस्य संरचनायां तृतीये स्तरे विशेषणवाचकनामपदानां प्रवेशो भवति। परन्तु (1) विशेषणानां के भेदाः, (2) अर्थाभिव्यक्तौ विशेषणं किं कार्यं करोति ? (3) वाक्यञ्च तत्कथमुपकरोति, (4) एवञ्च वाक्यावस्थायां तत्कथं प्रयुज्यते ? इति चतुर्विधा जिज्ञासा जाग्रति।

प्रथमं तावदिदं ज्ञातव्यं यद्-विशेषणमितरव्यावर्तकं भवति। यदाहं रक्तं पुष्पमानेतव्यमिति कथयेयन्तदा श्वेतं पुष्पं नीलं पुष्पं वा नानेतुं योग्यमिति ज्ञायते। अत्र रक्तेति विशेषणेन श्वेतनीलादीनां पुष्पाणां व्यावृत्तिः क्रियते। अतो व्यवहारदशायां वक्तुः कृते विशेषणानां प्रयोगः परमावश्यको भवति। वाक्ये यानि कारकाणि स्युः, तेषां निश्चितं स्वरूपं प्रदर्शयितुं विशेषणानि प्रयुज्यन्ते, यैश्च वाक्यस्य विस्तृतिर्भवति। तद्यथा- सीता पुष्पमानयति इति वाक्ये कर्तृकारकं कर्मकारकञ्च यदा विशेषणेन सह संयोज्येते तदा - जनकपुत्री सीता रक्तं पुष्पम् आनयति इति विस्तृताकारं वाक्यं सम्पाद्यते। अर्थात् कारकचक्रे विशेषणानां संविशेषो वाक्यस्य विस्ताराय कल्पते। वाक्ये च विशेषणं द्विविधं भवति। तद्यथा - (1) अभेदमूलकम् (2) भेदमूलकञ्च। यदा (1) ज्येष्ठो रामः काष्ठमयेन जलयानेन पुनीतां गङ्गाम् उत्तरति' इति वाक्यं भवति, तदा तत्र रामेऽभेदसम्बन्धेन वर्तमानं ज्येष्ठत्वमुच्यते तथैव च पुनीतत्त्वं नामको गुणो गङ्गायामभेदसम्बन्धेन स्थित इति प्रतीयते। अतो वाक्येऽस्मिन् ज्येष्ठः, काष्ठमयेन, पुनीताम् इति पदान्यभेदमूलकानि विशेषणरूपाणि सन्तीत्यत्र नास्ति संदेहावकाशः। अभेदमूलकस्य विशेषणस्य वाक्ये प्रयोगः कथं भवति इति प्रदर्शनायैका कारिका वर्तते -

यल्लिङ्गं यद्वचनं या च विभक्तिर्विशेष्यस्य।
तल्लिङ्गं तद्वचनं सैव विभक्तिर्विशेषणस्यापि ॥

अपरञ्च यदा - (1) सीतया सह रामः, शबरस्य जलयानेन, अयोध्याया गङ्गाम् उत्तरति इति वाक्यं भवति तदा तत्र सीतारामयोर्भेदः सुतराम्। एवञ्च

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

गङ्गाऽयोध्ययोः, शबरजलयानयोश्च मध्येऽपि भेदः स्फुटमेव प्रतिभाति । अर्थात् वाक्येऽस्मिन् 'सीतया', 'अयोध्यायाः' 'शबरस्ये' ति च भेद-मूलकानि विशेषणानि सन्तीति प्रतीयते ॥

इत्थं विशेषणं द्विविधं प्रतिभाति

भेदमूलकम्

1. षष्ठीविभक्तौ प्रयुज्यमानानि सम्बन्धवाचकानि विशेषणानि (राज्ञः पुरुषो गच्छति)
2. साहचर्यप्रकटीकरणाय सह, सार्धं, साकं, सममित्यादीनि निपातानि (अव्ययानि) –(सीतया सह रामो वनं गच्छति) तैः सह सम्बद्धानि पदानि
3. राहित्यं द्योतनाय प्रयुज्यमानानि 'ऋते', 'विना' इति निपातानि (अव्ययानि) । तैः सह सम्बद्धानि पदानि -

अभेदमूलकं

1. गुणवाचकानि विशेषणानि (चतुरो रामः)
2. वर्णवाचकानि (रक्तं कमलम्, नीलो घटः)
3. संख्यावाचकानि-(एकं पुष्पं, विंशतिः छात्राः)
4. सर्वनामवाचकानि-(सा सीता, तस्य रामस्य)
5. तद्धितान्तानि विशेषणानि- (कौन्तेयोऽर्जुनः, गाङ्गेयो भीष्मः)
6. कृदन्तानि- (पावकोऽग्निः, नायको रामः, वरदो हस्तः)
7. केचन समासाः- (पीताम्बरः कृष्णः, दृष्टकाशिर् देवदत्तः, लक्ष्मणाग्रजो रामः)
8. वर्तमानकृदन्तानि - (गच्छन् रामः, प्रविशन्ती सीता)
9. भविष्यत्कृदन्तानि- (ग्रामं) गमिष्यमाणाय रामाय)

अतः संस्कृतवाक्यस्य संरचनायां तृतीये स्तरे द्विविधस्य विशेषणस्य प्रयोगो भवति । तच्चित्राकारेणेत्थं स्पष्टीक्रियते -

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

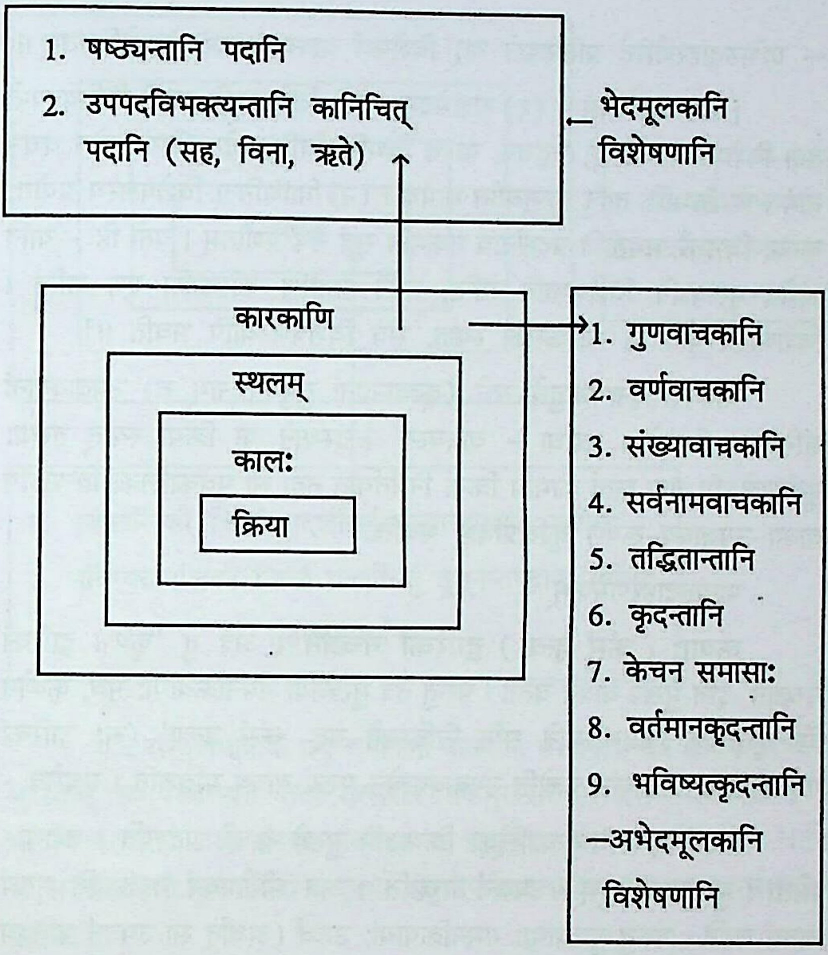

एतादृशं द्विविधं विशेषणं सर्वैः कारकैः सह प्रयुज्यैतादृशानि वाक्यानि भवन्ति –

(1) अयोध्याया रामो भरतस्य जलयानेन भारतवर्षस्य गङ्गाम् उत्तरति।

(2) सीतया सह रामो, बाणादृते नगरस्योपवनं गच्छति ।

(3) चतुरो रामः यद्वा काष्ठमयेन जलयानेन विस्तीर्णां गङ्गाम् उत्तरति।

(4) स एको रामः सुवर्णमयेन पीतेन रथेन स्वकीयं राजकीयं शस्त्रागारं गच्छति ।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

— एभिरुदाहरणैरिदं प्रतिपाद्यते यद् विशेषणं वाक्यस्याकारं वितनोतितराम् ॥

[अत्र ध्यातव्यम् – (१) यत्राभेदमूलकानि विशेषणानि वाक्ये विनियुज्यन्ते तदा विशेष्यस्य यल्लिङ्गं, यद्वचनं, या च विभक्तिर्भवति, तदेव लिंगं, तदेव वचनं तामेव च विभक्तिं तानि प्राप्नुवन्ति तामेव। (२) पाणिनिना विशेषणस्य प्रयोगः कस्यां विभक्तौ भवतीति प्रदर्शनाय एकमपि सूत्रं नैव प्रणीतम्। यतो हि – यानि अभेद-मूलकानि विशेषणानि सन्ति, तानि सर्वाणि कारकाणि एव सन्ति। विशेष्यस्य कृते या कारकसंज्ञा स्यात्, सैव विशेषणस्यापि भवति ॥]

वाक्यसंरचनायाश्चतुर्थे स्तरे (क्त्वान्तानां तुमुनन्तानाम् च) उपवाक्यानां संनिवेशः क्रियते। तद्यथा – वाक्यस्य केन्द्रस्थाने या क्रिया स्यात् तस्याः पूर्वकालेऽपि यदा कर्ता कामपि क्रियां निर्वर्तयति तदा सा पूर्वकालिका क्रियाऽपि वाक्य-उपवाक्य-रूपेण कुक्षिप्रविष्टा भवति।

पश्यतूदाहरणमेकम् –

कृष्णः (कंसं हत्वा) द्वारिकां गच्छति। अत्र तु 'कृष्णो द्वारिकां गच्छति' इति मुख्यं वाक्यं वर्तते। परन्तु तत्र मुख्याया गमनक्रियायाः पूर्वं, कृष्णेन किं कृतमिति जिज्ञास्यमाने सति निर्दिश्यते यत् 'कंसं हत्वा' (सः द्वारिकां गच्छतीति)। अत्र कंसं हत्वेति उपवाक्यत्वेन मुख्यं वाक्यं प्रविशति। एवमेव –

कदाचिद् भविष्यत्कालिका क्रियाऽपि मुख्ये वाक्ये प्रदर्श्यते। तद्यथा– **सीता (पुष्पाण्यानेतुम्) उपवनं गच्छति**। अत्र सीतोपवनं गच्छतीति मुख्यं वाक्यं वर्तते। परन्तु मुख्यायाः गमनक्रियायाः ऊर्ध्वं (अर्थात् सा उपवनं प्रविश्य किं करिष्यति, तर्हि) पुष्पाणाम् आनयनमभीष्टमास्ते। अतः सा तुमुनन्तवाच्या भविष्यत्कालिका क्रियाऽपि मुख्यं वाक्यम् उपवाक्यत्वेन प्रवेशमर्हति ॥

तथैव च – मुख्यवाक्यस्य क्रियां विशेषयितुं कदाचित् क्रियाविशेषणानि, सत्सप्तम्यन्तानि च पदान्यपि प्रयुज्यन्ते। तद्यथा – (1) जरासन्धः सुखं शेते। अत्र सुखमिति क्रियाविशेषणमस्ति। (2) **भीष्मे हते दुर्योधनः संग्रामं गच्छति**। अत्र दुर्योधनस्य संग्रामगमनं कदा भवति, तदा स्पष्टीकरणाय 'भीष्मे हते' इति भावलक्षणा सत्सप्तमी प्रयुज्यते।

संस्कृतभाषाया इदं चतुर्थस्तरीयं वाक्यं चित्राकारेणेत्थं प्रदर्श्यते –

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

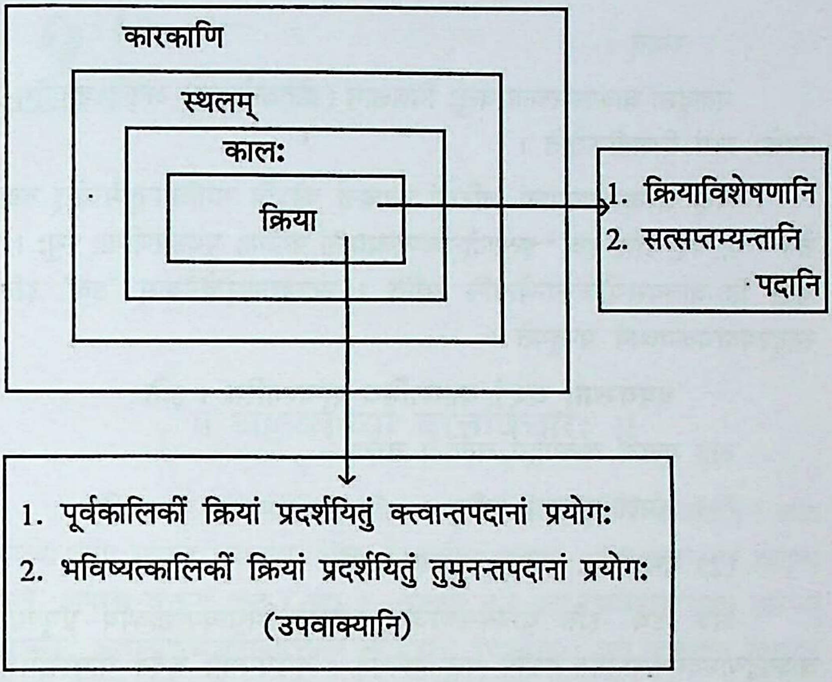

यदि संस्कृतभाषायां प्रयुज्यमानानां वाक्यानां संरचनाऽनेनैव क्रमेण शिष्याणां पुरस्तात् समुपस्थाप्यते तदा तत्सरलं तर्कपुरस्सरं शिक्षणं भविष्यतीति मे मतिर्विचारयति । अत्र संस्कृतवाक्यस्य या चतुर्विधा संरचना प्रतिपादिता वर्तते, सा सर्वतोग्राहिणी मूलगामिनी च दृश्यते । गुणोपसंहारन्यायेनेयं संस्कृतवाक्यसंरचनेत्थं प्रतिभाति ।

1. केवलं प्रथमान्तपदात्मकमपि कदाचित् वाक्यं भवति ।
2. केवलं तिङन्तपदात्मकं वाक्यमपि स्यात् ।
3. क्रियायाः स्थलकालात्मकं शाश्वतमधिकरणपूर्वकं कारकचक्रसहितं वाक्यम् ।
4. सर्वेषां कारकाणां द्विविधानि विशेषणानि यत्र स्युः, तादृशं विस्तृताकारं वाक्यम् ।
5. मुख्ये वाक्ये क्त्वान्तं तुमुनन्तमिति च पदात्मकम् उपवाक्यमपि संनिवेशनीयम्, यद्वा / तथैव च क्रियाविशेषणादिसहितमपि वाक्यं

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

स्यात् ।

एतादृशी वाक्यसंरचना वक्तुः विवक्षाम् (श्रोतुश्चापेक्षाम्) अनुलक्ष्यार्थाभिव्यक्तेः क्रमं विशदीकरोति ।

यदा संस्कृतवाक्यानां जटिलां संरचनां कोऽपि समधिगन्तुमिच्छेत् तदा तेन "च, यद्, इति, इव" इत्यादीनामप्यव्ययानां प्रयोगाः पृथक्करणीयाः स्युः ।। यतो हि-वाक्यसंयोजकान्येतानि सन्ति । उदाहरणमुखेनैकम् 'इव' इति सादृश्यवाचकमव्ययं प्रस्तूयते ।

दमयन्त्याः वदनं कमलमिव सुन्दरमस्ति । इति

अत्र मूलतो वाक्यद्वयं वर्तते । तच्च –

(1) कमलं सुन्दरम् अस्ति ।

(2) दमयन्त्याः वदनम् सुन्दरम् अस्ति ।

अत्र 'इव' इति वाक्यसंयोजकं सादृश्याभिधायकञ्चाव्ययं प्रयुज्य, वाक्यद्वयमिदमेकवाक्यरूपेणापि वक्तुं शक्यते । **दमयन्त्याः वदनं कमलमिव सुन्दरमस्ति** इति । एतादृशी जटिला वाक्यसंरचनाऽपि कदाचिद् विवेचनामर्हति इति विस्तरभयाद् अलम्... ओम् शम् ॥

—x—

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

9

॥ अष्टाध्याय्यां वृत्तिविचारः ॥

भूमिका – भाषाव्यवहारः सदैव वक्तृजन–श्रोतृजनयोर्मध्ये प्रवर्तते। अतः कस्या अपि भाषाया व्याकरणं द्विधा विरचयितुं शक्यते। एकं व्याकरणं श्रोतृणां कृते, अपरञ्च वक्तृणां कृते। अत्र 1. श्रोतृणां कृते यद् व्याकरणं स्यात् तस्मिन् वाक्याद् आरभ्याऽर्थप्राप्तिपर्यन्तानि सोपानानि प्रदर्श्यन्ते। अत्र वाक्यस्य विघटनं निरूप्यते। व्याक्रियन्ते पृथक्क्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्युत्पत्तिं चरितार्थां कुर्वाणा काऽपि पद्धतिरनुसर्तव्येति कथनस्याशयः। 2. एवञ्च वक्तृणां कृते यद् व्याकरणं भवेत् तस्मिन् विवक्षिताद् अर्थादारभ्य वाक्यसिद्धिपर्यन्तं निरूपणं कर्तव्यम्। इमां द्वितीयां पद्धतिम् अनुसृत्य महर्षिणा पाणिनिनाऽष्टाध्यायी विरचितेति दृश्यते। यतो हि – वक्तृणां मनस्सु ये विचाराः प्रादुर्भवन्ति तेषां वैखर्या वाण्या ध्वनिश्रेण्यां प्रकटीकरणम् अनिवार्यम्। अतः कमपि विचारं पूर्वं मनसि निश्चित्य, तस्यार्थस्य रूपान्तरणं कृत्वा वाक्यनिर्मितिः कथं कर्तव्येति प्रथममेव केनापि वक्त्रा ज्ञातव्यम् एव। अतः महर्षिः पाणिनिर् वक्तृणां कृते यद् व्याकरणं विरचयति, तस्मिन् 'साधकतमम्, ध्रुवमपाये, कर्मणा यमभिप्रैति (इति कारकपादे), वर्तमाने, परोक्षे, (इति लकार–निरूपणे), सत्तायाम् व्यक्तायां वाचि'' (इति धातुपाठे) इत्यादिशब्दैः प्रथमम् अर्थनिर्धारणं करोति। तदनन्तरं तेभ्यः सर्वेभ्योऽर्थेभ्यः 'करणम्, सम्प्रदानम्, अपादानम्, इत्यादीनि कारकादिसंज्ञादीनि प्रददाति। ततो तेषां कारकादीनां प्रकटीकरणाय महर्षिणा विभिन्नाः प्रत्यया विधीयन्ते। ततः स्थान्यादेशस्य प्रयुक्त्या तेषां प्रत्ययानां ध्वनिश्रेण्याम् आवश्यकं परिवर्तनं निर्दिश्यते। अन्तिमे च सोपाने सन्धिकार्यं कृत्वा, प्रयोगार्हस्य वाक्यस्य सिद्धिः सम्पाद्यते॥ अष्टाध्याय्याम्

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

एतादृशं निरूपणं दृष्ट्वाऽऽधुनिकैर् वैयाकरणैर् अष्टाध्याय्याम् शब्दनिष्पादकस्य (word-producing machine) तन्त्रस्य 'दर्शनं' क्रियते । अर्थात् महर्षिणा पाणिनिना शब्दनिष्पादनात्मकं तन्त्रं (Genenerative grammar) व्याकरणं निर्मितमित्युच्यते। वक्तृजनानामावश्यकतां लक्ष्यीकृत्य प्रवृत्तस्यैतादृशस्य व्याकरणस्य कृते, व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते शब्दा (=वाक्यानि) अनेनेति व्याकरणम् इति व्युत्पतिः सुसंगता भवति ॥

परन्तु पाणिनेर् अष्टाध्याय्याम् (वक्तुः कृते) निरूपितस्य व्याकरणस्य यत् स्वरूपम् अद्यावधि विद्वद्भिर् आकलितं तद् अर्धमेव । यतो हि – तत्र वृत्ति-विचारस्य किमपि स्थानं नास्ति । प्रत्युत तस्य (वृत्तिविचारस्य) सर्वथोपेक्षा तैर्विहितेति प्रतीयते । अतः प्रस्तुते शोधपत्रे वृत्ति-विचारम् अधिकृत्य, पाणिनेर् अष्टाध्याय्याः पूर्णं स्वरूपं कीदृशं प्रतिभातीति विवेचनाय प्रयतिष्यते ॥

1-1 ''समर्थः पदविधिः' (2-1-1) इति परिभाषा-सूत्रस्य कोऽर्थ इति विचार्यमाणे भट्टोजिदीक्षितेन सिद्धान्तकौमुद्यां लिखितं यद् – पदसम्बन्धी यो विधिः, स समर्थाश्रितो बोध्यः । अस्य च सूत्रस्य व्याख्यानावसरे, पतञ्जलिना स्पष्टीक्रियते यद् समर्थ इति पदेन 1. व्यपेक्षाभावरूपं सामर्थ्यं, 2. एकार्थीभावरूपञ्च सामर्थ्यम् अत्र विवक्षितं वर्तते । प्रथमेन च सामर्थ्येन वाक्यस्य सिद्धिर्भवति., द्वितीयेन चैकार्थीभावरूपेण सामर्थ्येन समासादयः पञ्चवृतयः भवन्ति ।

पदविधिरिति शब्दं, पतञ्जलिरित्थं विवृणोति – ''किं पुनर् विधीयते। 1. समासो, 2. विभक्तिविधानं 3. पराङ्वद्भावश्च'' ॥ (2-1-1 भाष्यम् पृ. 359) अत्र नागेशो भट्टः स्पष्टीकरोति यद् समासपदं वृत्तिमात्रोलक्षणम् । (उद्द्योतः, पृ. 313) ॥ किन्तु विभक्तिविधानमिति शब्देन वाक्यसिद्धिरपि व्यपेक्षाभावरूपं सामर्थ्यम् अपेक्षत इत्यपि पतञ्जलिना निर्दिष्टमेव । अत एव नागेशेनैव तत्रेत्थम् अपि स्पष्टीकृतं यत् – केचित्तु पदोद्देश्यकः पदत्वसम्पादको वा सर्वो ऽपि पदसम्बन्धित्वात् पदविधिरेवेति वदन्ति । (तत्रैव उद्घोतः, पृ. 313) ॥

अनया चर्चया सुष्ठु ज्ञायते यद् अस्याम् अष्टाध्याय्यां द्वौ विधी वर्तेते। एको विधिः – पदत्वसम्पादक आस्ते., द्वितीयश्च विधिः – पदोद्देश्यकोऽपि नितराम् आस्ते । अत अष्टाध्याय्याः सूक्ष्ममान्तरिकं स्वरूपं निर्णेतुम् द्वावपि विधी सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्षणीयौ ।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

1-2- पाणिनेर्व्याकरणस्यान्तरिकं स्वरूपं द्रष्टुम् प्रथममेकः प्रश्नो विचारणीयो भवति। तद्यथा - पाणिनिः किं पदसंस्कारपक्षस्य पुरस्कर्ता, उत वा वाक्यसंस्कार-पक्षस्य पुरस्कर्ता। तर्हि विद्वद्भिर्निर्णीतं यद् पाणिनिः शब्दसाधनिकावस्थायां (प्रक्रियादशायाम्) केवलं वाक्यसंस्कारपक्षम् एव स्वीकृतवान्। यतो हि - महर्षिः पाणिनिः "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः," (3-5-69) तथा "अनभिहिते" (2-3-1) इति च सूत्राभ्यां वाक्यस्यैव सिद्धिमादितः मनसि निधाय, सूत्राणि विरचयतीति प्रतिभाति ॥

परन्तु वाक्यसंस्कारपक्षस्य पुरस्कर्ता पाणिनिर् वाक्यान्तर्गतानां सुबन्त-तिङन्तपदानां साधनिकां यदा प्रदर्शयति, तदा वृत्तिजन्यानां पदानां स्थानं तेन कुत्र संस्थापितं, तदपि गवेषणीयम्। एतादृशे प्रश्ने समुद्भाविते - समुद्भूते सति, कार्यशब्दवादिनां यन्मतं, तत्प्रथमं निपुणं निभालनीयम्। अष्टाध्याय्याः स्वरूपनिर्धारणाय तेषां कार्यशब्दवादिनाम् अभिप्रायः परमोपकारकोऽस्ति।

2-1 ये कार्यशब्दवादिनः सन्ति त इत्थं मन्वते यद् वृत्ति-वाक्ययोरर्थः सर्वथाऽभिन्न एव। त एवमपि वदन्ति यद् वाक्यं नष्टीकृत्यैव समासादिवृत्तयः संसाध्यन्ते। (अत एव तत्त्वबोधिन्यां "समसनं समासः, भावे घञ्। अनेकस्य पदस्य एकपदीभवनम् इत्यर्थ इत्येके।" इति लिखितम्।) प्रथमतया, वाक्यसंस्कारपक्षम् अनुसृत्य यद् वाक्यं निर्मितं तस्य वाक्यस्य यानि पदानि सन्ति, तानि पदानि प्रकृति-प्रत्यययोः पृथक्कृत्य, तत्र "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" (2-4-71) इत्यनेन विभक्ति-प्रत्ययानाञ्च लोपं कृत्वा, कृत्तद्धितान्तसमासादीनां प्रातिपदिकत्वं जोघुष्यते। अत्रैकपदीभवनान्तरं योऽर्थः पूर्वसिद्धस्य वाक्यस्यासीत् स एवार्थ वृत्तितः संप्राप्यते। अत्र "समः अर्थः यस्य स समर्थ इति" व्युत्पत्तिरपीदम् एव कथयति यद् वृत्ति-वाक्ययोरर्थः सर्वथाऽभिन्न एव ॥

एवञ्च परार्थाभिधानं वृत्तिरिति भाष्योक्तेरपीदमेवाशयः वर्तनं वृत्तिरिति व्युत्पत्त्या ज्ञायते यद् - परस्य =विग्रहवाक्यस्यार्थे यत् तद्धितान्तादीनां समासादीनाञ्च प्रवर्तनं सैव वृत्तिः ॥

2-2 कार्यशब्दवादिनः स्वकीयं मतं समर्थयितुं 'विभाषा" (2-1-11) इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादस्यैकादशीयं सूत्रं प्रमाणत्वेनोपस्थापयन्ति। (ते "विभाषा" (2-1-11) इत्यधिकारसूत्रं महाविभाषात्वेन ख्यापयन्ति। अनेन सूत्रेण "राज्ञः पुरुषः" इति वाक्यस्य, "राजपुरुष" इति वृत्तिजन्यस्य च पदस्य

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

साधुत्वम् समानार्थत्वञ्च समुद्घोष्यते । वाग्व्यवहारकाले "राज्ञः पुरुष" इति वाक्यमपि साधु, "राजपुरुष" इति सामासिकं पदमपि साधु । तेनोभावपि प्रयोगौ सर्वथा स्वीकार्याविति महर्षिणा सूत्रकारेण सुष्ठु ज्ञापितम् । वृत्तिवाक्याभ्याम् अर्थप्रतीतिरपि समानैव जायते । येन च, राज्ञः पुरुषम् आनय इत्युच्यमाने यस्यानयनं भवति, तस्यैवानयनं राजपुरुषम् आनय इत्युच्यमाने भवति । अतः नास्ति कोऽपि भेदो वृत्ति-वाक्ययोर् मध्ये ॥

2-3- कार्यशब्दवादिभिः द्वितीयमपि प्रमाणम् उपस्थाप्यते यद् महर्षिणा पाणिनिना "नित्यं क्रीडाजीविकयोः" (2-2-17) इत्येतस्मिन् सूत्रे नित्यमिति यत् पदं प्रयुक्तम्, तदतीव ध्यानार्हम् । तद्यथा - "उद्दालक-पुष्पभञ्जिका" इति शब्देन अमुकक्रीडेत्यर्थोऽवबोध्यते ।

परन्तु यदा "उद्दालकस्य पुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां क्रीडायाम्" इत्येतादृशं विग्रहवाक्यं प्रयुज्यते, तदा अमुक (विशिष्टा) क्रीडाया बोधो न जायते । अतः पाणिनिना स्वयमेवात्र 'नित्यमिति' शब्दग्रहणेन, महाविभाषया विकल्पेन प्राप्तस्य वाक्यस्य निवृत्तिः क्रियते । तेन ज्ञायते यत् तत्र नास्ति नित्यमिति पदम्, तत्र सर्वत्रापि महाविभाषया वृत्ति-वाक्ययोर् विकल्पः समानार्थबोधकत्वेनैव प्रचलति ॥

2-4 तद्धितवृत्तिविषयेऽपि वृत्ति-वाक्ययोः समानार्थकत्वे सत्यपि, प्रौढिवादेनैकाम् अभिनवां दृष्टिम् अनुसृत्य किञ्चिदुच्यते । तद्यथा - समर्थानां प्रथमाद् वा (4-1-82) इत्यनेन सूत्रेण 'औपगव' इत्यादीनां शब्दानां सिद्धिर्भवति । सूत्रकारेणात्र यद् "वा" इति पदम् अभिनिविष्टम्, तेन "औपगव" इति शब्देन सह, "उपगोः अपत्यम् पुमान्" इति वाक्यस्यापि समानार्थकता प्रयोगार्हत्वञ्च सूत्रकारेण स्वीकृतम् । किन्तु पोल किपार्स्की महोदयेन "वा - विभाषा - अन्यतरस्याम्" इति शब्दानाम् विकल्पवाचकत्वे सत्यपि, तेभ्यः सर्वेभ्यः शब्देभ्यः काऽपि स्वल्पा विशिष्टाऽर्थच्छाया सम्प्राप्यत इति समुद्घाटितम् । किपार्स्की महोदयस्य मतानुसारेण पाणिनेर्मनसि 'वा' इति शब्दस्य Or rather, usually, preferably (Panini-As a variationist; by Paul Kiparsky, University of Poona, Pune, 1980, p.1) इति विशिष्टार्थोऽभिमत आसीत् । तेन "उपगोः अपत्यं पुमान्" इति वाक्यापेक्षया "औपगव" इति तद्धितान्तस्य रूपस्याधिकतरं प्रयोगार्हत्वम् अस्ति । इत्थं "समर्थानां प्रथमाद्वा" (4-1-82) इति सूत्रस्थेन 'वा' इति शब्देन तद्धितवृत्तेरधिकतरा स्पृहणीयता वाग्व्यवहारे भवेद् इति

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

संसूच्यते ॥

2-5 एवमेव, महाविभाषया (वा । 2-1-11) प्राप्तस्य समासस्यापि स्पृहणीयता स्वीकरणीया । यतो हि - अनया वृत्तिप्रक्रियया संस्कृतभाषाया देदीप्यमानं प्रश्लिष्ट स्वरूपम् उद्भास्यतेतमाम् ॥

3-0 एकशेषः किं वृत्तिरस्ति न वा ?

3-1 पञ्चविधासु वृत्तिषु यैकशेषरूपा वृत्तिः परिगणिता, सा कथं वृत्तित्वेन परिगण्यत इति प्रश्नः । यद्यपि प्रश्नोऽयं त एव पृच्छन्ति, ये पाणिनेरष्टाध्यायीस्थां व्यवस्थां नैव जानन्ति । तैरेवं वक्तुं पार्यते - समासरूपा या वृत्तिरस्ति, तस्यामेव एकशेषस्य समावेशो भविष्यति । कस्मादिति चेत् - द्वन्द्वसमासस्य ये विभेदाः सन्ति, तत्रैव एकशेषस्याप्यन्तर्भावो भवितुमर्हति । माता च पिता च इति पितरौ इति एकशेषस्योदाहरणम् इति ॥ महर्षेः पाणिनेर्व्याकरणाद् येऽनभिज्ञाः सन्ति, ते पितरौ इति पदम् एकशेषद्वन्द्वस्योदाहरणम् मन्वते । परन्तु कथनमिदम् अज्ञानविजृम्भितम् एव । वस्तुतस्तु, एकशेषस्यैकम् अप्युदाहरणं द्वन्द्वसमासस्य भेदत्वेन न स्वीक्रियते । यतो हि - द्वयोर्विषयविभागः सुतरां भिन्न एव । अतः जिज्ञासुना द्वन्द्वस्य च, एकशेषस्य च विषयविभागः प्रथमम् अवगन्तव्यः । बालानाम् सुखबोधायैतत् पर्याप्तम् ।

किन्तु विद्वज्जनानां परितोषायाऽत्र महती समीक्षा करणीया । तद्यथा - सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ (1-2-64) इत्यत्र भाष्ये पतञ्जलेर्भणितिरियम् यद् अनवकाश एकशेषो द्वन्द्वं बाधिष्यते । अस्या भाष्योक्तेः क आशय इति विचार्यमाणे ज्ञायते यद् - यदि एकशेषो बाधकः द्वन्द्वश्च बाध्यः, तर्हि उत्सर्गापवादयोः सामानाधिकरण्यम् (समानविषयता) भवितुमर्हति । तेन यदि द्वन्द्वसमासस्य वृत्तित्वेन स्वीकृतिः क्रियते, तर्हि एकशेषस्यापि वृत्तित्वेन परिगणनं कर्तव्यमेव । इदमेकं समाधानम् । अपरश्च समाधिः श्रूयताम् - अष्टाध्याय्याः प्रथमपादस्य द्वितीये पादे एकशेषप्रकरणं निम्नोक्तैः सूत्रैर्निर्दिष्टम् -

1. सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ । (1-2-64),
2. वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः । (65)
3. स्त्री पुंवच्च । (66)
4. पुमान् स्त्रिया । (67)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

5. भ्रातृ-पुत्रौ स्वसृ-दुहितृभ्याम् । (68)
6. नपुंसकम् अनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् । (69)
7. पिता मात्रा । (70)
8. श्वसुरः श्वश्र्वा । (71)
9. त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् । (72)
10. ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री । (73) ।

एतैर्दशभिः सूत्रैः द्विविध एकशेषो वर्णितः । (1) सरूपाणामेकशेषः, (2) विरूपाणाञ्चैकशेषः । अस्य द्विविधस्योदाहरणद्वयमपि द्रष्टव्यम् ।

(क) सैनिक + सैनिक + सैनिक + जस् + आ + गम् (गतौ) + (झि) अन्ति । अत्र सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ (1-2-64) इत्यनेनैकस्यैव सैनिकेति प्रातिपदिकस्य भविष्यत्येकशेषः ॥ तद्यथा - सैनिक + 0 + 0 + आ + गच्छ् + अ + अन्ति । ततः सैनिका आगच्छन्ति इति वाक्यस्य सिद्धिर्भवति ॥ - उदाहरणमिदमस्ति सरूपैकशेषस्य ॥

(ख) (जगत् + ङस्) + मातृ + अम् + पितृ + अम् + वन्दे ।

अत्र ''पिता मात्रा '' (1-2-70) इत्यनेन सूत्रेण पितृ इति शब्दस्यैकशेषो भवति । (जगतः पितरौ वन्दे ।) इदमुदाहरणम् विरूपाणामेकशेषस्य भवति ॥

3-2- अत्रैकशेषस्य नास्ति किमपि विग्रहवाक्यम् । यथा राज्ञः पुरुष इति विग्रहवाक्याद् राजपुरुष इति समासो निष्पाद्यते । कुम्भं करोति इत्येतस्माद् विग्रहवाक्यात् कुम्भकारेति कृदन्तं प्रातिपदिकं निर्मीयते । तथा सैनिका आगच्छन्ति इत्यत्र सरूपैकशेषे, उत वा पितरौ इति विरूपैकशेषे नास्ति पूर्वतः सिद्धं किमपि विग्रहवाक्यम् ॥ तथापि - एकशेषो वृत्तित्वेन परिगण्यते । अतः जिज्ञासा विशेषरूपेणोदेति - कथम् एकशेषो वृत्तिरिति । उच्यते -वर्तनं वृत्तिः इति वृत्तिपदस्य व्युत्पत्तिः । तेन विलुप्तानाम् सरूपाणां विरूपाणाम् वा प्रातिपदिकानाम् (शब्दानाम्) अर्थे, अवशिष्टस्य प्रातिपदिकस्य प्रवर्तनम् यत्र भवति स (=तादृशः) एकशेषोऽपि वृत्तिरिति निशङ्कं सिध्यति ॥ अत्र परार्थाभिधानं वृत्तिरिति भाष्योक्तलक्षणमपि सङ्गच्छते । तद्यथा - विलुप्तानां प्रातिपदिकानाम् अर्थाभिधानं येनैकशेषेन क्रियते, स एकशेषोऽपि वृत्तिरिति सिद्धम् ।

3-3 परन्त्वत्र सर्वैरवधेयम् यद् इयम् एकशेषरूपा वृत्तिस्तु न पदोद्देश्यको

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

विधिः, वृत्तिरियन्तु केवला पदत्वसम्पादिकाऽस्ति । तेन पञ्चविधानां वृत्तीनाम् निम्नोक्तरीत्या वर्गीकरणं विधेयमिति मन्ये ।

वृत्तयः

पदत्व-सम्पादिका वृत्तिः	*पदोद्देश्यिका वृत्तयः*
1. एकशेषारूपा वृत्तिः	2. कृद्-रूपा वृत्तिः
सा च द्विविधा -	3. तद्धित-रूपा वृत्तिः
(क) सरूपाणामेकशेषः	4. समास-रूपा वृत्तिः
(ख) विरूपाणामेकशेषः	5. सनाद्यन्तधातु-रूपा वृत्तिः

4-0 अष्टाध्याय्या आन्तरिकीं संरचनाम् अवगन्तुम् इदानीं विचार्यते - भगवता पाणिनिना अष्टाध्याय्यां किम् केनापि सुनिश्चितेन पौर्वापर्यक्रमेण वृत्ति-वाक्ययोः सिद्धिः प्रदर्शिता ।

4-1 पूर्वं यथा निर्दिष्टं तथा वाक्यसंस्कारपक्षम् अनुसृत्य प्रथमं कमपि विवक्षितार्थम् विनिश्चित्य, तस्यार्थस्य कृते विविधाः प्रकृतयः संस्थाप्य, कारकसंज्ञानाम् माध्यमेन विभक्तिप्रत्ययान् अवतार्य, स्थान्यादेशभावेन यानि यानि ध्वनिपरिवर्तनान्यपेक्ष्यन्ते तानि सर्वाणि संपाद्य, प्रसङ्ग - प्राप्तानि सन्धिकार्याण्यपि कृत्वाऽन्तिमे सोपाने प्रयोगार्हस्य वाक्यस्य सिद्धिः क्रियते पाणिनीयैः सूत्रैः ॥ तद्यथा - "राजन् + ङस् + पुरुष + सु + गम् + लट्" इत्यस्माद् (प्रकृति-प्रत्ययानाम्) समुदायात् "राज्ञः पुरुषो गच्छति ।" इति प्रयोगार्हं वाक्यम् निर्मीयते । इत्थम् विवक्षिताद् अर्थाद् आरभ्य प्रवर्तमानं पाणिनीयं व्याकरणचक्रम् अन्तिमे सोपाने वाक्यं निर्माति, किन्तु तावत् पर्यन्तं, (अर्थाद् अष्टाध्याय्या आरम्भिके प्रवर्तने) पाणिनीयस्य व्याकरणतन्त्रस्य परिभ्रमणन्त्वर्धमेव समाप्तम् ।.

4-2 अत्र वक्ता यद्यस्य वाक्यस्य व्यवहारदशायाम् प्रयोगं कर्तुम् अभिलषति, तर्हि तस्य वाक्यस्य प्रयोगाय सोऽनुमन्यते । परन्तु यदि स वक्ताऽस्मादेव वाक्याद् वृत्तिजन्यानि समासादीनि पदानि निर्मातुमिच्छति, तर्हि तस्य कृतेऽपि पाणिनीयं व्याकरणं सन्नद्धम् एव तिष्ठति । अत्र च विलसति पाणिनेः पदसंस्कारपक्षः । वक्तुर्मनसि यदा समासप्रयोगस्येच्छा जागर्ति तदा पाणिनेर्व्याकरणतन्त्रस्यावशिष्टस्यार्धस्य सम्पूर्तये प्रवृत्तिः (भ्रमणम्) प्रारभ्यते । तद्यथा - राजन् + ङस् + पुरुष +सु इत्यलौकिकाद् वाक्याद् शब्दसाधनिकाऽग्रे

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

प्रचलति । अत्र "प्राक्कडारात्समासः" (2-1-3) इत्यधिकारान्तर्गतं "षष्ठी" (2-2-8) इत्येतत् सूत्रं प्रथमं समाससंज्ञां विदधाति, ततः "कृत्-तद्धित-समासाश्च" (1-2-46) इति सूत्रेण समाससंज्ञकस्य प्रकृति-प्रत्यय-समुदायस्यैका-ऽपरा प्रातिपदिकेति संज्ञा भवति। इदानीं या या संज्ञा सा सा फलवतीति न्यायेन, प्रातिपदिकसंज्ञाम् अनुसृत्य "सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः" (2-4-71) इति सूत्रेण प्रातिपदिकान्तर्गतस्य ये ये विभक्तिप्रत्ययाः सन्ति, तेषां समेषां लोपो भविष्यति। ततः "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" (8-2-7) इत्यनेन सूत्रेण राजन् इत्यस्माच्छब्दान् नकारस्यापि लोपो भविष्यति; येन "राजपुरुष" इति षष्ठीतत्पुरुष-समासस्य सिद्धिः पूर्णतां गमिष्यति। अस्य कथनस्याऽयम् आशयः - वाक्यसिद्धिं विधाय पाणिनेर्व्याकरणं तत्रैव न विरमति। परन्तु तस्मादेव वाक्यात् समासादिकं वृत्तिपदम् अपि सुतरां जनयति । ततः "राजपुरुषो गच्छति" इत्यपि वक्तुं पार्यते ॥ (अर्थाद् अग्रेऽप्येतादृशं वाक्यम् अपि निर्मातुं शक्यते ।)

4-3 परन्तु पाणिनीयं तन्त्रमत्रापि विरामं नानुभवति। यदि कोऽपि वक्ता राजपुरुष इति शब्दं (प्रातिपदिकम्) विशेषणत्वेन प्रयोक्तुम् अभिलषति तर्हि तन्त्रमिदं तस्य वक्तुः साहाय्यं वितनोत्येव । तत्कथम् इति चेत् - श्रूयताम् । "विष्णुमित्रो राजपुरुषाय देवदत्ताय धनं प्रयच्छति" इत्यादिस्वरूपकं कमप्यर्थं प्रकटीकरणाय, राजपुरुष +ङे +देवदत्त + ङे ..... इत्यादिभिर् व्याकरण-सोपानैः प्रक्रियां सम्पाद्य तस्य वृत्तिजन्यस्य सामासिकपदस्यापि पुनः पुनर् नवीने वाक्ये प्रवेशो भवितुमर्हत्येव ॥

4-4 तदनन्तरं यदि कश्चिद् वक्ता राजपुरुषश्चासौ देवदत्तश्चेति कर्मधारय-समासस्य रचनां कर्तुम् वाञ्छति तर्हीदमेव पाणिनीयं व्याकरणं तत्रापि तस्य साहाय्यं करोत्येव। येन च - राजपुरुषदेवदत्ताय नगरस्य प्रजाः क्रुध्यन्ति। इति वाक्यं जनयित्वा पाणिनीयं व्याकरणं वक्तारम् उपकरोत्येव ॥ इत्थं पाणिनेरष्टाध्यायी चक्रवद् अविरतम् परिभ्रमति । अस्त्येतादृशी पाणिनेरष्टाध्याय्या आन्तरिकी संरचना ॥

चक्राकारेण परिभ्रमणाय सन्नद्धीकृतमिदं तन्त्रं कथं सततं गतिशीलं तिष्ठति इति चेत् - अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (1-2-45) इति सूत्रेणारब्ध-गतिकं तन्त्रमिदं, कृत्तद्धितसमासाश्चे (1-2-46) त्यनेन द्वितीयसूत्रेण पुनरपि प्रदत्तनवीनगतिकं भवति । तेनास्य तन्त्रस्य चक्रवत् परिभ्रममाणा गतिः कदापि

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

केनाप्यवरोद्धुं न शक्यते । अत एव, बाणभट्टो दीर्घं दीर्घतरं दीर्घतमञ्चापि कृत्तद्धित-समासादिनिष्ठं निरतिशयं प्रलम्बं वाक्य निर्मातुं प्रभवति । यदि पाणिनेर् अष्टाध्याय्याम् न स्याद् वृत्तिप्रक्रियाया एतादृशी चमत्कृतिः, तर्हि संस्कृतभाषाया विश्वविजयिनी प्रश्लिष्टतापि भवितुं नार्हति ॥

अथोपसंह्रियते –

1. पाणिनेर्व्याकरणतन्त्रं प्रक्रियावस्थायां पूर्वार्धे शब्दनिष्पादनात्मकमप्यस्ति । एवमेव तदेव व्याकरणमुत्तरार्धे रूपान्तरणात्मकमपि दृश्यते ।
2. वाक्यसंस्कारपक्षं पुरस्कृत्य, प्रक्रियावस्थायाम् प्रथमम् अर्थाद् (meaning) आरभ्य वाक्यसिद्धिः प्रदर्श्यते । तदनन्तरं तदेव वाक्यं विग्रहवाक्यरूपेण स्वीकृत्य विविधानाम् पदानाम् उपरि संस्कारो विधीयते । अनेन च वृत्तिविधायकेन कार्येण, कृदन्त-तद्धितान्तादीनां पदानाम् (प्रातिपदिकानाम्) सिद्धिर्भवति । अतः पदसंस्कारपक्षोऽपि पाणिनिना स्वीकृतः । किन्तु तादृशः पक्षस्तु (वाक्यसिद्धेरनन्तरं) तन्त्रस्योत्तरार्धे वर्णितः ।
3. पाणिनीयं व्याकरणतन्त्रं चक्रवद् अनवरतं परिभ्रमति । तद् व्याकरणं वक्तुश्च एकम् एव विचारं द्विविधतया श्रोतारं सम्प्रेषयितुम् वृत्ति-वाक्ययोर्विकल्पमपि वितनोतितमाम् ।
4. वृत्ति-वाक्ययोः वैकल्पिकत्वे समानार्थबोधकत्वे सत्यपि समर्थानां प्रथमाद् वा (4-1-82) इत्यनेन साध्यमानानां तद्धितान्तानाम् (समासानाञ्च) प्रयोगार्हतरत्वम् अपि स्वीकरणीयम् ।
5. एकशेषरूपा वृत्तिः पदत्वसम्पादिकास्ति । तथाऽन्याः चतस्रो वृत्तयः पदोद्देश्यिकाः सन्ति ।
6. पञ्चविधाभिर् वृत्तिभिः संस्कृतभाषायाः प्रश्लिष्टतरत्वं पौनःपुन्येन संसाध्यते ॥

—x—

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

10

स्पृहेरीप्सितः (१-४-३६) एवं भट्टोजि दीक्षितादि ॥

1.0. भट्टोजि दीक्षित ने "वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी" में, स्पृहेरीप्सितः (पा.सू. 1-4-36) सूत्र के उपर लिखा है कि – ईप्सित मात्र में यह सम्प्रदान संज्ञा होती है । लेकिन यदि प्रकर्ष की विवक्षा है तो 'परत्व' के कारण 'कर्म' संज्ञा भी होती है ।[1] पदमञ्जरीकार हरदत्ताचार्य भी ऐसा ही कहते हैं । इस विधान के आधार पर 'पुष्पेभ्यः स्पृह्यति ।' जैसे वाक्यों के साथ साथ ही '**देवदत्तः पुष्पाणि स्पृहयति ।**' जैसे वाक्य भी बन सकते हैं । एक कदम आगे बढ़ाकर कहें तो 'देवदत्तेन पुष्पाणि स्पृह्यन्ते ।' जैसे कर्मणि प्रयोग भी हो सकते हैं ॥

1.1 भट्टोजि दीक्षित की वृत्ति के अनुसन्धान में तत्त्वबोधिनीकार कहते है कि परत्व के कारण कर्तुरीप्सिततमं कर्म (1-4-49) सूत्र से 'कर्म' संज्ञा होने पर "परस्परेण स्पृहणीयशोभम्" एवम् "स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिः" जैसे उदाहरणों में 'कर्म' अर्थ मे – अनीयर् – प्रत्यय जुड़कर 'स्पृहणीय' शब्द बन सकता है ॥[2]

पदमञ्जरीकार हरदत्त भी बताते हैं कि 'कुमार्य इव कान्तं स्पृहयन्ति" जैसे प्रयोगों में षष्ठी शेषे (2-3-50) सूत्र से 'कर्म' की, अर्थात् 'कान्त'

---

1. ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा । प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात् कर्मसंज्ञा । पुष्पाणि स्पृहयति ॥ – वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, पृ.178 एवं पदमञ्जरी, पृ. 553.

2. परत्वाद् इति । तेन परस्परेण 'स्पृहणीयशोभम्' 'स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिः' इत्यादौ कर्मण्यनीयर् सिध्यति – वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी इत्यत्र तत्त्वबोधिनी, पृ. 178.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

(शब्द)की शेषत्व विवक्षा करके, षष्ठी विभक्ति का भी प्रयोग हो सकता है। यथा–कुमार्य इव कान्तस्य स्पृहयन्ति ।[3]

इस तरह से भट्टोजि दीक्षित, तत्त्वबोधिनीकार एवं पदमञ्जरीकार एक बात पर सहमत है कि – स्पृह धातु के योग में प्रकर्ष की विवक्षा करने पर (अर्थात् 'ईप्सित' के स्थान पर 'ईप्सिततम' होने पर) पुष्प जैसे पदार्थ की 'कर्म' संज्ञा भी होती है। परन्तु भट्टोजि दीक्षित का यह मत चिन्त्य है, पुनः परीक्षणीय है ॥

2.0. **पुष्पेभ्यः स्पृहयति** – इस उदाहरण में स्पृहेरीप्सितः (1-4-36) सूत्र से 'पुष्प' (शब्द) की सम्प्रदान संज्ञा हो कर, चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। यहाँ पर भट्टोजि दीक्षित कहते हैं कि – 'पुष्प' अत्यन्त इच्छनीय ईप्सिततम है ऐसा कहने की इच्छा है तो 'पुष्प' (शब्द) की कर्मसंज्ञा भी हो सकती है, जिसके परिणामस्वरूप 'पुष्पाणि स्पृहयति' जैसा द्वितीयान्त प्रयोग भी हो सकता है। भट्टोजि दीक्षित के मत से, स्पृहेरीप्सितः (1-4-36) सूत्र की अपेक्षा कर्तुरीप्सिततमं कर्म (1-4-49) सूत्र परसूत्र होने के कारण (परत्व के कारण) 'कर्म' संज्ञा भी हो सकती है। इस तरह 'पुष्पेभ्यः स्पृहयति' के साथ साथ 'पुष्पाणि स्पृहयति' जैसे प्रयोग को भी साधु यानि प्रयोगार्ह माना जायेगा ॥

लेकिन यहाँ पर भट्टोजि दीक्षित ने अपने मत के समर्थन में जो 'परत्वात्' ऐसा हेतु दिया है, वह अयुक्त है, शास्त्रविरुद्ध है। 'परत्व' की शास्त्रोक्तयुक्ति यहाँ पर असंगत है। क्योंकि स्पृहेरीप्सितः (1-4-36) एवं **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** (1-4-49) – यह दोनों सूत्र सावकाश (यानि किसी उदाहरण में चरितार्थ) होने पर ही **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (1-4-2) सूत्र प्रवृत्त हो कर, परत्व के आधार पर निर्णय दे सकता है। (क्योंकि 'विप्रतिषेधे' का अर्थ 'तुल्य बलवाले, अर्थात् किसी उदाहरण में चरितार्थ हुए, सावकाश बने हुए दो सूत्रों के बीच बलाबल भाव का निर्णय करने की क्षण पर जो 'परसूत्र' (अष्टाध्यायी क्रमांक की दृष्टि से पश्चाद्वर्ती) होता है, उसी को बलवान मान कर प्रवृत्त किया जाता है' – ऐसा कहा गया है। परन्तु प्रस्तुत चर्चा में, 1-

3. शेषत्वविवक्षायां तु कुमार्य इव कान्तस्य त्रस्यन्ति स्पृहयन्ति च इत्यत्र षष्ठ्यपि सिध्यतीति हरदत्तादयः। – वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी इत्यत्र तत्त्वबोधिनी, पृ. 378

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

4-36 एवं 1-4-49 दोनों सूत्र 'तुल्य बलवाले' नहीं है। अतः पूर्वत्व-परत्व का विचार यहाँ प्रस्तुत ही नहीं बनता है।

कर्तुरीप्सितममं कर्म (1-4-49) सूत्र सावकाश है, और **स्पृहेरीप्सितः** (1-4-36) सूत्र निरवकाश है। अतः सावकाश 1-4-49 परवर्ती सूत्र होते हुए भी, 1-4-36 जैसा पूर्ववर्ती सूत्र **निरवकाश** होने के कारण 1-4-49 (परवर्ती) सूत्र का बाधक सूत्र बनता है। अतः केवल **'पुष्पेभ्यः स्पृहयति'** ऐसा एक ही (चतुर्थ्यन्त) प्रयोग ही होता है (होना चाहिए) अर्थात् 'पुष्प' की कर्म संज्ञा नहीं हो सकती, (परिणाम स्वरूप 'पुष्पाणि स्पृहयति' जैसा द्वितीया विभक्त्यन्त प्रयोग नहीं हो सकेगा; और उसका कर्मणि प्रयोग भी नहीं होगा)॥ भट्टोजि दीक्षितने जो लिखा है, वह सिद्धान्तविरुद्ध है॥

2.1 तत्त्वबोधिनीकार ने एक ओर से भट्टोजि दीक्षित के मत का समर्थन करने के लिए 'स्पृहणीयशोभम्' जैसे प्रयोग में 'कर्म' अर्थ में / अनीयर् / प्रत्यय प्रवृत्त हुआ है - ऐसा लिखा है। परन्तु दूसरी और, भर्तृहरि एवं हेलाराज के ग्रन्थों के आधार पर यह भी लिखा है कि स्पृह धातु के योग में यह 1-4-36 सूत्रविहित 'सम्प्रदान' संज्ञा से 'कर्म' संज्ञा का बाध होता है; (एवं शेष-षष्ठी का भी बाध होता है)। इस दृष्टि से **'परस्परेण स्पृहणीयशोभम्'** जैसे उदाहरणों में **दानीयो विप्रः** की तरह बाहुलक से 'सम्प्रदान' अर्थ में /-अनीयर् / प्रत्यय संलग्न हुआ है - ऐसा समाधान देना चाहिए। इसी तरह से, **'कुमार्य**

---

4. हेतुत्वे कर्मसंज्ञायां शेषत्वे वापि कारकम्।
रुच्यर्थादिषु शास्त्रेण सम्प्रदानाख्यमुच्यते॥

(अत्र हेलाराजः) यथा संज्ञान्तरपूर्वकं कर्म प्रागुक्तं, तथा इदम् अपि सम्प्रदानमन्यपूर्वकं शास्त्रेण रुच्यर्थानां प्रीयमाणः (1-4-33) इत्यादिना व्याख्यायते। ... यदा तु 'देवदत्ताय रोचते मोदकः' इति, अयमर्थो 'देवदत्तं मोदकः प्रीणयति' इति; तथा च 'प्रीयमाण' इति विशेषणं तदा कर्मसंज्ञायां प्राप्तायां सम्प्रदान-संज्ञारम्भः।.... 'पुष्पेभ्यः स्पृहयति' इति पुष्पाणामीप्सिततमत्वात् कर्मसंज्ञाप्रसंग उक्तः॥ - वाक्यपदीयम् (3-7-130)

उपर्युक्त चर्चा का जो तात्पर्यार्थ है वह इस तरह का है:- 'पुष्प' आरम्भ से लेकर ही ईप्सिततम है, और इस स्थिति में कर्तुरीप्सिततमं कर्म (1-4-49) सूत्र से 'कर्म' संज्ञा प्रवृत्त होने के लिए आती है। उसका बाध करके सम्प्रदान संज्ञा करने के लिए ही आचार्य पाणिनि ने स्पृहेरीप्सितः। 1-4-36 जैसे सूत्र की रचना की है। इस तरह भर्तृहरि के मत से पुष्प कदाचित् ईप्सित होता है, और कदाचित् 'ईप्सिततम्' भी हो सकता है - ऐसा सम्भव ही नहीं है।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

इव कान्तस्य स्पृहयन्ति' का अर्थ 'कुमार्य इव कान्ताय स्पृहयन्ति' करना चाहिए ।[5] अंत में तत्त्वबोधिनीकार यह भी कहते हैं कि हरदत्त के मतानुसार क्रियया यमभिप्रैति०। 1-4-32 सूत्रस्थ वार्तिक से ही इष्टसिद्धि हो सकती थी। फिर भी **स्पृहेरीप्सितः** । 1-4-36 सूत्र की जो रचना की गई है, वह व्यर्थ हो जायेगी; (यदि 'पुष्प' की 'सम्प्रदान' संज्ञा न करके, कर्म संज्ञा की जायेगी तो) ॥[6]

3.0. प्रस्तुत लेख में भट्टोजि दीक्षित का खण्डन करके जिस मत की स्थापना की गई है, उसके समर्थन में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' एवं 'कादम्बरी' का एक एक वाक्य उद्धृत किया जाता है : (१) दुष्यन्त ने (सप्तमांक में) कहा है कि – स्पृहयामि दुर्ललिताय अस्मै (=सर्वदमनाय) । (यहाँ दुष्यन्त के लिए पुत्र भरत सर्वथा ईप्सिततम है, फिर भी कालिदास ने द्वितीय का प्रयोग नहीं किया । परन्तु चतुर्थी का ही प्रयोग किया है ॥ (२) प्रसृतविमलमणि किरणाश्रुतया प्ररुदितेरिवोपेता तज्जीविताय इव **आत्ममरणाय स्पृहयन्ती**, मृतस्यापि सर्वात्मना हृदयं प्रवेष्टुम् इव इच्छन्ती.... (महाश्वेता) .....मुहुर्मुहुरेतम् अन्वनयम ॥ – **कादम्बरी** (Ed. Peter Peterson, Bombay Sanskrit Series, No. XXIV, A.D. 1885, page-168) यहाँ पर महाश्वेता के लिए 'आत्ममरण' स्पष्ट रूप से 'ईप्सिततम' अर्थ होते हुए भी, बाणभट्ट कविने स्पृह धातु के योग में (सम्प्रदान संज्ञा प्रयुक्त) चतुर्थी विभक्ति का ही प्रयोग किया है, (द्वितीया का नहीं) ।

सन्दर्भग्रन्थौ

1. वाक्यपदीयम् (with Helaraja) Kanda III (Part-1), Ed. K.A. Subramania Iyer, Poona, 1963)
2. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी । – (तत्त्वबोधिनी सहिता) – प्रका. क्षेमराज श्रीकृष्णदास, श्री वेंकटेश्वर स्टीम मुद्रणालय, मुंबई, 1974.

---

5. वाक्यपदीय हेलाराजीयग्रन्थयोस्तु स्पृहयतियोगे कर्म संज्ञायाः शेषषष्ठ्या च बाधिकेयं सम्प्रदानसंज्ञेति स्थितम् ।... तस्माद् वाक्यपदीयादिग्रन्थानुरोधेन 'परस्परेण स्पृहणीयशोभम्' इत्यादौ 'दानीयो विप्रः' इतिवत् बाहुलकात् सम्प्रदाने अनीयर् इति व्याख्येयम् । 'कुमार्य इव कान्तस्य' इत्यत्र तु... 'कान्ताय स्पृहयन्ति' इति व्याख्येयमिति केचित् ॥ – वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी इत्यत्र तत्त्वबोधिनी, पृ. 378.

6. युक्तं चैतत् 'क्रियया यमभिप्रैति' इत्यनेनैवेष्टसिद्धेः 'स्पृहेरीप्सितः' इत्येतत् सूत्रस्य हरदत्तादिमते वैयर्थ्य-प्रसंगात् ॥ – तत्त्वबोधिनी, पृ. 178

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

11

पूर्वमीमांसा का 'नियम' एवं वैयाकरणों के 'परिभाषासूत्र'

भूमिका – पाणिनिकृत 'अष्याध्यायी' में षड्विध सूत्र प्राप्त होते हैं – संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश और अधिकार ।[1] इनमें से परिभाषासूत्र के लिए कहा गया है कि – लिङ्गवती परिभाषा । अर्थात् परिभाषा लिङ्गवती होती है ।[2] इसको एक उदाहरण से समझें तो – तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य । (पा.सू. 1.1.66) इस परिभाषासूत्र से 'सूत्र में जहाँ जहाँ सप्तमी विभक्ति का निर्देश होता है वहाँ अव्यवहित पूर्व को कार्य होता है'' – ऐसी व्यवस्था सूचित की गई है । अतः 'इको यणचि' (पा.सू. 6.1.77) सूत्र में 'अचि' ऐसा लिङ्ग, अर्थात् सप्तम्यन्त पद को देखकर वहाँ 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (पा.सू. 1.1.66) सूत्र की उपस्थिति होती है । इस चर्चा से ऐसी ध्वनि निकलती है कि 'परिभाषा सूत्र परार्थ हैं' । भाष्यकार पतञ्जलि ने परिभाषासूत्रों का परार्थत्व (यानि विधिसूत्रों को उपकारक होना) देखकर कहा है कि – परिभाषा एकदेश

---

1. संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रमुच्यते ॥ (कस्यापि)

2. तद्यथा – इको गुणवृद्धी । 1/1/3 लिङ्गवती चेयं परिभाषा, लिङ्गञ्चास्याः गुणवृद्धिग्रहणं, तत्रोपतिष्ठते ॥ – न्यासः (पृ.71) (द्रष्टव्या – काशिकावृत्तिः (न्यास–पदमञ्जरी सहिता) प्रथमो भागः, सं. स्वामी द्वारिकादासः शास्त्री एवं पं. कालिकाप्रसादः शुक्लः, प्रका. प्राच्यभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी,. 1965, पृ. 71।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

में रहती हुई भी समग्र शास्त्र को अभिज्वलित करती है; जिस तरह से गृह के कोने में रखा हुआ प्रदीप पूरे गृह में प्रकाश फैलाता है ।[3]

परन्तु भाष्यकार से भी पूर्व वार्त्तिककार ने परिभाषासूत्रों का नियमार्थत्व भी देखा था । अतः उन्होंने 'षष्ठी स्थानेयोगा' (पा.सू. 1.1.46) सूत्र पर 'षष्ठ्याः स्थाने योगवचनं नियमार्थम् । (वा. 1)'' ऐसा एक वार्तिक प्रस्तुत किया है । इसके समर्थन में 'नियमादिको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन ।' (1.1.3 सूत्रभाष्यम्) इस भाष्यवचन[4] पर भाष्यप्रदीपोद्योत में नागेश ने भी लिखा है कि अलोऽन्त्यस्य (पा.सू. 1.1.52) जैसे परिभाषासूत्रों की पूर्वाचार्यों ने ''नियम'' ऐसी संज्ञा रखी है ।[5] अतः वैयाकरणपरंपरा में परिभाषासूत्र नियमार्थ होते हैं ऐसा भी प्रचलित हुआ है । इसी तरह न्यासकार ने भी लिखा है कि – अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (पा.सू. 1.1.66) संज्ञासूत्र है; परिभाषासूत्र नहीं है । क्योंकि जो परिभाषा होती है, वह तो नियमार्थ होती है ।[6] (और यह अणुदित्० सूत्र किसी का भी नियमन तो नहीं करता है ।)

अब प्रश्न होता है कि यदि परिभाषासूत्र नियमार्थ होते हैं, तो अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (पा.सू. 1.3.12) सूत्र को भी परिभाषासूत्र कहा जाय या नहीं? क्योंकि इस सूत्र पर 'आत्मनेपदवचनं नियमार्थम् । (वा.-1) ऐसा वार्तिक मिलता है । तथा भाष्यकार भी बताते हैं कि इस सूत्र का प्रारम्भ नियमार्थ किया गया है । अतः इस प्रश्न की चर्चा के द्वारा – ''परिभाषासूत्र में किस प्रकार का नियमार्थत्व होता है, जो परिभाषासूत्र को नियमसूत्र से पृथक् करने में कारणभूत होता है ?'' इस विषय की गवेषणा करना प्रस्तुत लेख का ईप्सिततम

---

3. परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत् । तद्यथा - प्रदीपः सुप्रज्वलित एकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति ॥ (2।1।1 इत्यत्र भाष्यम्)–द्रष्टव्यम्: व्याकरण–महाभाष्यम् (प्रदीपोद्योतसहितम्) प्रथमः खण्डः, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1667, पृ.357 ।

4. प्रदीपोद्योत सहित के महाभाष्य की आवृत्तियों में यह वार्तिकवचन है । किन्तु BORI, Poona के कीलहोर्न सम्पादित महाभाष्य में यह वचन केवल भाष्यवचन के रूप में दिया गया है ॥

5. अलोऽन्त्यपरिभाषायाः पूर्वाचार्यसंज्ञा नियम इति । (उद्योतः, पृ. 122)

6. संज्ञासूत्रमिदम् न परिभाषा । सा हि नियमार्था भवति । (न्यासः, पृ. 243)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

कार्य है ।

१:० भाष्यकार ने 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' एवं 'तस्मादित्युत्तरस्य' (पा.सू. 1.1.66, 67) परिभाषासूत्र के सन्दर्भ में कहा है कि – सप्तमी विभक्ति एवं पञ्चमी विभक्ति का अविशेष रूप से पूर्व के साथ भी योग है तथा पर के साथ भी योग है। अतः नियमार्थ इस सूत्र का प्रारम्भ किया गया है। ''ग्रामे देवदत्तः ।'' ऐसा कहने पर देवदत्त का ग्राम के साथ पूर्व में योग है या पर में योग है ? इस विषय में सन्देह होता है । इसी तरह से, यहाँ इको यणचि (पा.सू. 6.1.77) की प्रवृत्ति के विषय में सन्देह होता है । दधि+उदकम् = दध्युदकम्। इस उदाहरण में (इ और उ) दोनों ही 'इक्' है और दोनों ही अच् है । अतः सन्देह होता है कि – 'अचि पूर्वस्य ?' या 'अचि परस्य ?' इसी तरह, तिङ्ङतिङः । (पा.सू. 8.1.28) सूत्र में भी 'अतिङः पूर्वस्य ?' या 'अतिङः परस्य ? ऐसा सन्देह रहता है । यहाँ इष्ट तो यही है कि – 'अचि पूर्वस्य' और 'अतिङः परस्य' ऐसा सूत्रार्थ हो । लेकिन बिना कोई प्रयत्न किये यह सिद्ध होनेवाला नहीं है । अतः कहा गया है कि – 'नियमार्थ इस सूत्र का प्रारम्भ – प्रणयन – किया जा रहा है ।'[7] इस भाष्योक्ति से विदित होता है कि जहाँ संदेह होता है, अर्थात् अनियम की स्थिति होती है वहाँ परिभाषासूत्र से नियम किया जाता है । हरदत्त ने इसी विचार को विशद करते हुए लिखा है कि लोक में जिस तरह अनियम के प्रसंग में नियम किया जाता है, उसी तरह शास्त्र में भी अनियम के प्रसंग में नियम करना चाहिए । जैसे कि – लोक में ग्रामान्तर में जाने को इच्छुक पुरुष किसी को कहता है कि कृपया मुझे मार्ग दिखाइए। अब जहाँ दो दिशाओं का मार्ग एकत्र सम्मिलित होता होगा, वहीं सन्देह होगा – ऐसे स्थान पर ही मार्गोपदेश किया जाता है कि अमुक (दायें या बाँये) मार्ग से जाने पर इष्ट ग्रामान्तर में जाया जा सकता है । इसी प्रकार यहाँ अस्तेर्भूः । (पा.सू. 2-4-52) सूत्र उपस्थित होने पर संदेह होता है कि – 'अस्' धातु के स्थान में 'भू' आदेश किया जाय, या अनन्तर स्थित

7. तस्मिंस्तस्मादिति पूर्वोत्तरयोर्योगयोरविशेषान्नियमार्थोऽयमारम्भः । ग्रामे देवदत्तः । पूर्वः पर इति सन्देहः । एवम् इहापीको यणचि । दध्युदकं पचत्योदनम् । उभाविकावुभावचौ । अचि पूर्वस्याचि परस्येति संदेहः । तिङ्ङतिङः (९.१.२९) इत्यतिङः पूर्वस्यातिङः परस्येति संदेहः । इष्यते चात्रापि पूर्वस्य स्यादतिङः परस्येति, तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति नियमार्थं वचनम् । एवमर्थमिदमुच्यते ॥ (पा.सू. 1।1।66, 67 इत्यत्र भाष्यम् । पृ. 172)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

वर्ण को? तब षष्ठी स्थानेयोगा। (पा.सू. 1-1-46) सूत्र से नियम किया जाता है कि 'स्थाने' का योग करके ही। अर्थात् 'अस्' धातु के स्थान में ही 'भू' का आदेश किया जाय।[८]

इससे स्पष्ट होता है कि - अनियम की स्थिति में जो सूत्र प्रस्तुत किये जाते है वह नियमार्थ बन जाते है, और इसी प्रकार के नियमार्थसूत्र को ही 'परिभाषासूत्र' कहते है। इसी सन्दर्भ में ही 'अनियमे नियमकारिणी परिभाषा' ऐसा लक्षण दिया गया है ॥

१:१ — अब यह प्रश्न उठता है कि - पाणिनि के नियमसूत्रों में किस प्रकार का नियमार्थत्व होता है ? अथवा, पाणिनि का अमुक सूत्र नियमसूत्र है या नहीं ? इसका निर्णय कैसे किया जाय। 'अष्टाध्यायी' का पर्य्यालोचन करने से विदित होता है कि कतिपय सूत्र में 'एव' कार का ग्रहण किया गया है।[९] इस 'एव' कार ग्रहण सामर्थ्य से ही अमुक सूत्र 'नियमसूत्र' है ऐसा निर्णय हो जाता है। विशेष में भाष्यकार कहते है की जो स्थिति सिद्ध होती है, उसका पुनः विधान करने के लिए जो विधि का प्रारम्भ किया जाता है, वह विधि 'एव' कार ग्रहण के अभाव में भी नियमार्थ बन जाता है।[१०] इस भाष्यवचन के आधार पर वैयाकरणों ने ''सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः'' ऐसा न्याय प्रचलित किया है। अब इस न्याय के मानदण्ड पर 'अमुक सूत्र नियमसूत्र है या नहीं?' इसका निर्णय किया जा सकता है।

यहाँ पर अनियम की स्थिति नहीं होती है; परंतु इससे विपरीत कोई एक स्थिति सिद्ध ही होती है। अतः पुनः विधान के सामर्थ्य से ही वह विधि नियमार्थ बन जाती है, और वह 'नियमसूत्र' कहलाता है ॥

---

8. अनियमप्रसंगे नियमः कर्तव्यो लोकवत्। तद्यथा - लोके ग्रामान्तरं जिगमिषुः कश्चित् कञ्चिदाह-पन्थानं मे भवान् उपदिशत्विति। स यत्र संदेहः पथि द्वैविध्यात् तत्रैवोपदिशति अमुष्मिन्नवकाशेऽनेन पथा गच्छेति; एवमिहापि अस्तेर्भूः अस्तेः स्थानेऽनन्तरो वेति संदेहे नियमः क्रियते - स्थानेयोगैवेति ॥ (1-1-49 इत्यत्र पदमञ्जरी, पृ. 168)।

9.अमैवाप्ययेन। पा.सू. 2-2-20; अजादि गुणवचनादेव। पा.सू. 5-3-58।

10. अथ एवकारः किमर्थः। नियमार्थः। नैतदस्ति प्रयोजनम्। सिद्धे विधिरारभ्यमाणोऽन्तरेणाप्येवकारं नियमार्थो भविष्यति। - उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव। पा.सू. 6।2।80 इत्यत्र भाष्यम्, पृ. 131।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

२:० – यहाँ पर, पूर्वमीमांसा के 'नियम' और 'परिसंख्या' में जिस प्रकार का नियमार्थत्व रहता है उसका विनियोग करके पाणिनि के परिभाषासूत्रों और नियमसूत्रों में रहने वाले नियमार्थत्व को विशद किया जा सकता है। तद्यथा – 'ब्रीहीन् अवहन्ति'। ऐसा एक वाक्य है। यहाँ वैतुष्यार्थ नखविदलन की भी प्राप्ति है और अवहनन की भी। इस स्थिति में 'अवहन्ति' कहने से नखविदलन का निषेध हो जाता है। इसी को पूर्वमीमांसा में 'नियम' कहा गया है। इस प्रकार का नियम हमें व्याकरणशास्त्र के परिभाषासूत्र में प्राप्त होता है। जैसे कि – दधि+उदकम्। इस स्थिति में इको यणचि। (पा.सू. 6-1-77) सूत्र से 'यण्' की प्राप्ति है। लेकिन इ एवं उ दोनों ही 'इक्' है तथा 'अच्' भी है। अतः सन्देह होता है कि किसको यण् आदेश किया जाय? यहाँ पर 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (पा.सू. 1-1-66) परिभाषासूत्र से नियम प्रस्तुत किया जाता है कि 'अच्' से अव्यवहित पूर्व को ही 'यण्' आदेश होता है। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वमीमांसा का जो नियम है, वह वैयाकरणों का परिभाषासूत्र है॥

२:१ – इसी तरह से मीमांसक लोग जिसको परिसंख्याविधि के रूप में पहचानते हैं, उसी को वैयाकरण लोग नियम कहते हैं। निम्नोक्त भाष्यवचन से इसका समर्थन किया जाता है॥

"(शब्द या अपशब्द) दो में से किसी भी एक का उपदेश करने से कार्यसिद्धि हो जायेगी। तद्यथा – भक्ष्य का नियम करने से अभक्ष्य का प्रतिषेध गम्य रहता है – अवगत हो जाता है। उदाहरण रूप से कहें तो – "पाँच नखवाले पाँच प्राणी भक्ष्य हैं" – ऐसा कहने पर यह समझा जाता है कि इससे भिन्न जो भी प्राणी है वे सभी अभक्ष्य है। अथवा – अभक्ष्य का प्रतिषेध करने से भक्ष्य का नियम हो जाता है। उदाहरण रूप से कहें तो – "ग्राम्य कुक्कुट अभक्ष्य है और ग्राम सूकर (भी) अभक्ष्य है।" ऐसा कहने पर यह अवगत हो जाता है कि आरण्य कुक्कुट या आरण्य सूकर भक्ष्य है।[११]

---

11. अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात्। तद्यथा – भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते। पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्युक्ते गम्यत एतद् – अतोऽन्येऽभक्ष्या इति॥ अभक्ष्यप्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः। तद्यथा – अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्रामशूकर इत्युक्ते गम्यत एतद् आरण्यो भक्ष्य इति॥ (व्याकरण-महाभाष्ये प्रथममाह्निकम्, पृ. 5)।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

'भाष्यप्रदीपोद्योत' में इसको स्पष्ट करते हुए नागेश भट्ट ने लिखा है कि – यह उदाहरण तो परिसङ्ख्या का दिया गया है। उसका 'नियम' के स्वरूप में कैसे व्यवहार किया गया है ? परिसङ्ख्या एवं नियम में तो भेद है। जैसे कि पाक्षिक अप्राप्तिपूर्वक अप्राप्तांशपूरकविधि को (ही) नियमविधि कहा जाता है। जबकि परिसङ्ख्याविधि तो अन्यनिवृत्तिफला होती है। इसका समाधान यह है कि नियमविधि में भी अप्राप्तांश परिपूरणरूप फलबोधन के द्वारा आर्थी अन्यनिवृत्ति होती है।[१२] अतः नियम एवं परिसङ्ख्या के बीच अभेद मानकर उपर्युक्त भाष्यचर्चा की गई है।[१३]

३:० – पूर्वोक्त चर्चा में पाणिनि के परिभाषासूत्र और नियमसूत्र के बीच में जो भेद है, वह बताने के लिए पूर्वमीमांसा के नियम और परिसंख्या का उपयोग किया गया है। अतः किसी को भी जिज्ञासा हो सकती है कि पूर्वमीमांसा के 'विधिवाक्य' का लक्षण पाणिनि के विधिसूत्रों के साथ क्या सुसंगत हो सकता है ? तो इसका प्रत्युत्तर है – हाँ। पूर्वमीमांसा में अत्यन्त अप्राप्त कार्य का विधान करते हुए वाक्य को 'विधि' (अपूर्वविधि) कहते है।[१४]

उदाहरण रूप से – यजेत स्वर्गकामः। 'स्वर्ग की कामना वाले पुरुष को यज्ञ करना चाहिए।' यहाँ पर स्वर्गार्थक याग की प्रमाणान्तर से अप्राप्ति

---

12. 'व्रीहीनवहन्ति'। वाक्य में अवघातविधि से अर्थतः नखविदलन की निवृत्ति होती है – इसी को ''आर्थी अन्यनिवृत्ति'' कहते है।

13. ननु अस्य परिसङ्ख्यात्वात् कथं नियमत्वेन व्यवहारः। अस्ति च नियमपरिभाषयोः भेदः। पाक्षिकाप्राप्तिकाप्राप्तांशपरिपूरणफलो नियमः। अन्यनिवृत्तिफला च परिसङ्ख्येति चेन्न, नियमेऽप्यप्राप्तांशपरिपूरणरूपफलबोधनद्वारार्थान्यनिवृत्तेः सत्त्वेन अभेदमाश्रित्योक्तेः ॥ (भाष्यप्रदीपोद्योते प्रथममाह्निकम् पृ. 41–42)

14. विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते ॥ – अर्थसङ्ग्रहे तृतीयो भागः

यहाँ पर अपूर्व का अर्थात् प्रमाणान्तर से जो अप्राप्त है उस कार्म का विधान करने वाला 'विधि' होता है। दो या अधिक विकल्पों की प्राप्ति होने पर किसी भी एक के लिए मर्यादित (सीमित) करने वाले वाक्य 'नियम' कहलाता है। और दो में से एक विकल्प की जो निवृत्ति कर देता है वह 'परिसंख्या' है। अर्थात् injuction को विधि, restriction को नियम और exclusion को परिसंख्या कहते हैं॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

थी। ऐसी स्थिति में यह 'विधिवाक्य' (अपूर्वविधि) बनता है । इसी तरह से - सुधी+उपास्य में 'इको यणचि' (पा.सू. 6-1-77) सूत्र से इतर किसी भी सूत्र से यण् आदेश की प्राप्ति नहीं थी । अतः वह सूत्र (पा.सू. 6-1-77) पूर्वमीमांसा के 'विधिवाक्य' जैसा ही विधिसूत्र कहा जायेगा ।

हम जब वैयाकरणों के परिभाषासूत्र की पूर्वमीमांसा के 'नियम' के साथ तुलना करते हैं तब एक दूसरी वात स्पष्ट करने की भी आवश्यकता है । जैसे कि पूर्वमीमांसा में 'नियम' का जो उदाहरण है - 'व्रीहीन् अवहन्ति ।' वहाँ अवहनन क्रिया से नखविदलन की निवृत्ति होती है । इसी तरह से पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में 'दधि+उदकम्' इस स्थिति में 'इ' एवं 'उ' दोनों को 'यण्' आदेश (6-1-77 सूत्र से) प्राप्त होता है, तब तस्मिन्० (पा.सू. 1-1-66) परिभाषासूत्र से 'उ' कार को प्राप्त होनेवाले यण् आदेश की निवृत्ति की जाती है । किन्तु अब प्रश्न होगा कि परिभाषासूत्र से क्या केवल 'अन्य निवृत्ति' ही होती है या और कुछ विशेष कार्य भी होता है ? । तो नागेश भट्ट ने एक स्थान पर बताया है कि परिभाषा लिङ्गवती होती है और साथ में फलवती भी होती है । यहाँ पर 'फल' का अर्थ इत्तरव्यावृत्ति के साथ इतरसङ्ग्रह भी समझना है ।[१५] अतः 'इ' कार को यण् आदेश की प्राप्ति भी सम्पन्न होती है । इसी प्रकार पूर्वमीमांसा के 'नियम' (व्रीहीन् अवहन्ति) के साथ पाणिनि के परिभाषासूत्रों की निःसंदेह तुलना की जा सकती है ।[१६]

अन्त में, पूर्वमीमांसा की 'परिसङ्ख्या' को पाणिनि के नियमसूत्रों के

15. अनियमे नियमकारिणीत्वात् परिभाषाया इति भावः । अन्ये त्विति । अयं भावः - न ह्यनियम इति श्रुतिः स्मृतिर्वा, किन्तु परिभाषा लिङ्गवती फलवती चेति नियमः, फलं चेतरव्यावृत्तिवद् इतरसङ्ग्रहोऽपि इति...... । (पा.सू. 1-1-3 वा0 5 इत्यत्र भाष्यप्रदीपोद्योतः, पृ. 121) ।

16. काशी की वैयाकरणपरम्परा में भी यह स्वीकृत है कि पाणिनि के परिभाषासूत्र सदृश पूर्वमीमांसा का 'नियम' है । हरिदीक्षित ने 'प्रौढमनोरमा' - की टीका 'शब्दरत्न' में लिखा है कि -

अत एव भाष्ये परिभाषाणां नियमतया व्यवहारः कृतः । परिभाषाणां न परिसंख्याविधिरूपनियमत्वम् । अपि तु व्रीहीनवहन्ति इतिवद् आर्थनियमत्वम् । - प्रौढमनोरमायां शब्दरत्ने परिभाषाप्रकरणम् (पृ. 76) द्रष्टव्या - शब्दरत्नसहिता प्रौढमनोरमा, सं. व्यंकटेश लक्ष्मण जोशी, डेक्कन कोलेज, पूना, 1966

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

साथ कहाँ तक संतुलित किया जा सकता है ? उसकी भी चर्चा की जाती है – पूर्वमीमांसा में 'परिसङ्ख्या' को विशद करने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है – एकादश्यां फलाहारं कुर्यात् ।' यहाँ पर परिसङ्ख्या को इत्तरव्यावृत्तिपरक माना गया है, किन्तु उसका स्वांश में चारितार्थ्य नहीं है । अर्थात् 'एकादशी के दिन फलाहार करना चाहिए' ऐसा जब विधान होता है वहाँ फल से भिन्न आहार का प्रतिषेध (व्यावृत्ति) किया जाता है । किन्तु फलों का आहार करना चाहिए या नहीं ? इस विषय में कुछ भी स्पष्ट (विधेयात्मक) विधान नहीं हुआ है – क्योंकि एकादशी के दिन निराहार भी रह सकते हैं । अब, यदि पाणिनि के नियमसूत्र ही पूर्वमीमांसकों की परिसङ्ख्या है ऐसा स्वीकार किया जाय तो एक आपत्ति होगी । जैसे कि – पाणिनि के नियमसूत्रों से अन्य की निवृत्ति जरूर होगी, परंतु वे स्वांश में चरितार्थ नहीं रहेंगे । उदाहरण रूप से कृत्तद्धितसमासाश्च । (पा.सू. 1-2-46) सूत्रस्थ 'समास' ग्रहण नियमार्थ है ऐसा माना गया है ।[१७] अतः (1) वाक्य की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी – यह हुई अन्यनिवृत्ति । किन्तु (2) उसका स्वांश में चारितार्थ्य नहीं रहेगा । अर्थात् समास की इष्ट 'प्रातिपदिक' संज्ञा नहीं हो सकेगी । यदि समास की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो पायेगी तो राजन्+ङस्+पुरुष+सु । इस स्थिति में सुपो धातुप्रातिपदिकयोः । (पा.सू. 2-4-71) सूत्र से विभक्तिप्रत्ययों का लुक् नहीं होगा (और परिणाम स्वरूप एकपदत्व भी प्राप्त नहीं होगा) । परन्तु इस आपत्ति को दूर हटाने के लिए वैयाकरणों ने अपने नियमसूत्रों में परिसङ्ख्या से प्राप्त अन्यनिवृत्ति रूप नियमार्थत्व का स्वीकार करने के साथ-साथ वह नियमसूत्र स्वांश मे चरितार्थ भी रहे इसके लिए एक दूसरा सिद्धान्त भी कार्यान्वित किया है । "उद्देश्यता को व्याप्त करके रहने वाली व्यापकता विधेय में भी) रहती है ।"[१८] यहाँ समास उद्देश्य (Subject) है । और 'प्रातिपादिक' संज्ञा विधेय (Predicate) है । प्रातिपदिकसंज्ञा व्यापक है और समास व्याप्य है । अतः व्याप्याधिकरण (समास) में व्यापकीभूत प्रातिपदिकत्व की उपस्थिति नहीं रहेगी तो प्रातिपादिक

---

17. कृत्तद्धितसमासाश्च । 1-2-46......... समासग्रहणस्य नियमार्थत्वाद् वाक्यस्यार्थवतः संज्ञा न भवति । – काशिकावृत्तिः, पृ. 345 ।

18. उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकत्वं विधेये भासते । अर्थात् उद्देश्यावच्छेदकनिष्ठ व्याप्यतानिरूपिता व्यापकता विधेये भासते इति वैयाकरणपुरन्दराः अस्मद्गुरवः श्रीबालकृष्णपञ्चोलिनः ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

संज्ञा में रहने वाला व्यापकत्व ही खपुष्पायमान बन जायेगा। इस तरह उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर 'वाक्य' की प्रातिपदिकसंज्ञा निवृत्त होने के साथ ही, 'समास' में (अर्थात् स्वांश) में वह प्रातिपदिकसंज्ञा चरितार्थ भी रहती है ॥

x x x

स्वंय भाष्यकार ने ही पाणिनि के नियमसूत्रों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः ।' ऐसा पूर्वमीमांसोक्त परिसङ्ख्या का उदाहरण (द्रष्टव्या पादटिप-11) प्रस्तुत किया है। और इस सन्दर्भ में नागेश भट्ट ने भी स्पष्ट किया है कि भाष्यकार ने नियम एवं परिसङ्ख्या का अभेद मानकर व्यवहार किया है।[१९]

३ : १ – उपसंहार – इस तरह से भाष्य में परिभाषाओं का नियम रूप से व्यवहार किया गया है। हमने देखा है (1:2) कि यह नियमार्थत्व अनियम की स्थिति में प्रवृत्त होता है। दूसरा, परिभाषासूत्रों में परिसङ्ख्या रूप नियमार्थत्व नहीं है। केवल 'व्रीहीनवहन्ति' की तरह आर्थनियमत्व है। अर्थात् पूर्वमीमांसा का जो नियम है वह वैयाकरणों की परिभाषा है। दूसरी ओर, भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि जिस सूत्र में 'एव' कार का ग्रहण होता है वह नियमसूत्र है। तथा 'एव' कार ग्रहण के अभाव में अमुक स्थिति सिद्ध होने पर जो पुनः विधान किया जाता है वह भी नियमार्थ होता है। इस तरह 'एव' कार गर्भित-नियमार्थत्व जिस सूत्र में रहता है, वह भी नियमसूत्र कहलाते हैं। इस सन्दर्भ में भाष्यकार ने सूचित किया है कि पूर्वमीमांसा की परिसङ्ख्या ही वैयाकरणों के नियमसूत्र है ॥

इस तरह पाणिनि के परिभाषासूत्रों में नियमसूत्रों से भिन्न प्रकार का नियमार्थत्व (अर्थात् व्रीहीनवहन्ति। जैसा आर्थनियमार्थत्व) रहता है; इस लिए ही – "संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।" इस कारिका में 'परिभाषा' पद को 'नियम' से पृथक् रखा गया है ॥

—x—

---

19. द्रष्टव्य है : २:१ की चर्चा।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

ग्रन्थसूची

1. अर्थसङ्ग्रहः of लौगाक्षिभास्करः, Ed. A.B. Gajendragadkar & R.D. Karmakar, Bombay, 1934.
2. काशिकावृत्तिः (न्यास-पदमञ्जरीसहिता), सं. स्वामी द्वारिकादासः एवं कालिकाप्रसादः शुक्लः प्रथमो भागः, प्रका. प्राच्यभारतीप्रकाशन, वाराणसी, 1965
3. प्रौढमनोरमा (शब्दरत्नसहिता), सं. वेंकटेश लक्ष्मण जोशी, डेक्कन कॉलेज, पूना, (भाग-1), 1966
4. व्याकरण-महाभाष्यम् (प्रदीपोद्योतसहितम्) (प्रथमखण्डः), प्रका. : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, .1967
5. The Vyakarana Mahabhasya of Patanjali, Ed., F. Kielhorn and K.V. Abhyankar, (Vol, I, III), BOR Institute, Poona, 1962, 1972.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

12

यास्क एवम् पाणिनि - काल तथा विषयवस्तु का अन्तराल

भूमिकाः - सृष्टि के आरम्भ में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने वेदमन्त्रों के दर्शन किये थे । तत्पश्चात् इन वेदमन्त्रों के संहितापाठ या पदपाठ, तथा प्रातिशाख्यादि की रचना हुई । इस के बाद षड् वेदाङ्गो की रचना हुई । इनमें से वेदमन्त्रों का अर्थघटन करने के लिए निरुक्त एवम् व्याकरण - वेदाङ्ग का महत्त्व सबसे अधिक है । किन्तु निरुक्तविद्या तथा व्याकरण-विद्या का उद्भव कब हुआ था - यह निश्चित रूप से हम नहीं जान सकते हैं । क्योंकि इन विद्याओं का उद्भव तो वेदमन्त्रों में भी देखा गया है । पाणिनि और यास्क के ग्रन्थों में अनेक पुरोगामी आचार्यों के मतों का नामशः उल्लेख प्राप्त होता है । परन्तु इन विद्या-सम्बन्धी स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना ''इदं प्रथमतया'' किस आचार्य ने की थी - वह अद्यावधि अज्ञात रहा है । इस तरह वेदाङ्ग के रूप में जिनको स्वीकृति मिली है वे दोनों - यास्क का निरुक्त, तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी - में से कौन पहेला है ? उसका निर्णय करना भी विवाद से परे नहीं है ।

यास्क पाणिनि के पुरोगामी आचार्य है - ऐसा परम्परागत मत बहुशः प्रचलित है । गोल्डस्टूकर कहेते हैं कि - पाणिनि ने जो **यस्कादिभ्यो गोत्रे** । 2-4-33 सूत्र से यास्क शब्द की व्युत्पत्ति दी है, उससे यह सूचित होता है कि पाणिनि से पहेले यास्क हो गये थे । एवमेव, उपसर्गों की चर्चा के दौरान

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

यास्क ने पाणिनि का नामोल्लेख नहीं किया है, अतः हम कहे सकते हैं कि पाणिनि से पूर्वकाल में ही यास्क पैदा हुए थे ॥

लिबीश, मूलर और मेहेन्दळेजी के मत में पाणिनि यास्क से पहेले हुए थे। गोल्डस्टूकर का प्रतिवाद करते हुए ये विद्वान् लोग कहते हैं कि पाणिनि का पूर्वोक्त सूत्र यास्क शब्द की केवल एक गोत्र-नाम के रूप में ही सिद्धि प्रदर्शित करता है। उससे निरुक्तकार यास्क का ही निर्देश हो रहा है - ऐसा कहेना दुराकृष्ट है। तथा यास्क ने उपसर्गों की चर्चा में पाणिनि का नामोल्लेख नहीं किया है। क्योंकि दोनों के शास्त्रों का स्वरूप ही सर्वथा भिन्न है, अतः यह आवश्यक ही नहीं था कि यास्क अपने निरुक्त में उपसर्गों की चर्चा में पाणिनि का नामोल्लेख करें। दूसरी और, पॉल थिमे कहेते हैं कि यास्क को पाणिनि के व्याकरण का पूरा परिचय है। यास्क जब दण्डयः, राजा, सन्ति - जैसे शब्दों का पृथ्थकरण देते हैं तब दण्डम् अर्हति इति दण्ड्यः । में **तदर्हति । पा.सू. ५-१-६३** एवं **दण्डादिभ्यः । पा.सू. ५-२-६६** सूत्रों की उनको जानकारी है ऐसा दिखाई देता है। इसी तरह से सन्ति में आदि-स्वर का लोप होता है, तथा राजा शब्द में उपधा-विकार होता है - इन सब की यास्क को जो जानकारी है वह पाणिनि के सूत्रों पर आधारित है ऐसा दिखाई देता है। इस तरह से, जब दोनों पक्षों के तर्क हमारे सामने रखे जाते हैं तब पाणिनि तथा यास्क का पौर्वापर्य निर्धारित करना मुश्किल लगता है। इस लिए प्रॉ. ज्योर्ज कार्दोनाजी कहते हैं कि - पाणिनि एवं यास्क का काल-निर्धारण करने का कार्य अभी भी अवशिष्ट है।[१]

यद्यपि इस सन्दर्भ में पाणिनि के कतिपय तद्धित एवं कृदन्त सूत्रों का सांस्कृतिक दृष्टि से अभ्यास किया जाय तो यास्क की अपेक्षा से पाणिनि का उत्तरवर्तित्व निश्चित रूप से सिद्ध हो सकता हैः - उदाहरण रूप में 1. **इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रदत्तमिति वा (५-२-९३)**, तथा २. **ब्रह्म-भ्रूण-वृत्रेषु क्विप् (३-२-८७)** - यहाँ प्रथम सूत्र में इन्द्रशब्द का

1. 1. After all the arguments and evidence adduced in support of both views. I think the only reasonable conclusion that can be reached at present is, as Giridhara Sarma Caturveda remarked (in 1954), that the question of priority remains open. Panini: A Survey of Research, by Prof. George Cardona, Motilal Banarasidass, Delhi, 1980, pp. 273.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

'आत्मा' अर्थ में प्रयोग किया गया है, जो एक दार्शनिक अर्थ है । दूसरे सूत्र में ब्रह्महा - भ्रूणहा - वृत्रहा जैसे शब्दों की रूपसिद्धि कही है । यहाँ दिति के गर्भस्थित पुत्रों (मरुद्-गण) की इन्द्र द्वारा की गई हत्या का निर्देश है - जिसमें हम एक पौराणिक कथा का सन्दर्भ देख सकते हैं । ये दोनों सन्दर्भ ऐसे हैं जो यास्क-कालिक नहीं है । यास्क तो इन्द्र का 'वृष्टि के देवता' के रूप में ही निर्वचन करते हैं । अतः हम कहे सकते हैं कि पाणिनि यास्क के उत्तरवर्ती काल में ही प्रादुर्भूत हुए होंगे ॥ (एवञ्च - ये दोनों आचार्य प्रायः निश्चित रूप से ई.पूर्व. 700-400 के बीच में हुये होंगे) ॥

परन्तु दोनों आचार्यों के ग्रन्थों का तुलनात्मक अभ्यास करने में काल-सीमा का कोई सीधा उपयोग नहीं है । क्योंकि दोनों आचार्यों के ग्रन्थों में यदि प्रतिपाद्य विषयवस्तु का सर्वथा साम्य होता तभी कौन पुरोगामी है और कौन अनुगामी है यह प्रश्न महत्त्व का बनता है । अतः प्रस्तुत आलेख में, यास्क एवं पाणिनि की स्वतन्त्र रूप से अपनी जो ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है उसको ध्यान में लेते हुए ही इन दोनों के ग्रन्थों में जो भेद है - उसका अभ्यास रखा गया है ।

१. यास्क एवं पाणिनि की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

निरुक्ताध्ययन के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए यास्क कहेते हैं कि वेदमन्त्रों का अर्थ जानने के लिए निरुक्त पढना चाहिये । लेकिन इसी क्षण पर पूर्वपक्षी के रूप में कौत्स नाम के आचार्य का मत उद्धृत करते हुए कहा गया है कि - **यदि मन्त्रार्थ-प्रत्ययाय अनर्थकं भवतीति कौत्सः । अनर्थकाः हि मन्त्राः । (निरुक्तम् - अ. १।५)** अर्थात् यास्क के पूर्वकाल में यह मत प्रचलित हो गया था कि वेदमन्त्रों में से कोई अर्थ नहीं निकाला जा सकता है । वैदिक मन्त्रों के जो अर्थ बताये जाते हैं वे भी वैदिक क्रियाकाण्ड के साथ सुसंगत नहीं है । वेदमन्त्रों में ऐसे अनेक वाक्य हैं कि जिनमें परस्पर विरुद्धार्थ का ही कथन हो ।[2] सारांश यही निकलता है कि वेदमन्त्रों के जो

---

2. अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति । ओषधे त्रायस्वैनम् । स्वधिते मैनं हिंसीः इत्याह हिंसन् । अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति । एक एव रुद्रोऽवतस्थे, न द्वितीयः । असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् । (निरुक्तम् 1।5)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

तथाकथित अर्थ बतलाये जाते हैं वह तर्कशुद्ध बुद्धि में बैठते नहीं है। तो – यह थी यास्क के निरुक्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ॥

ब्राह्मण-संस्कृति के यज्ञयागादि में पशुहिंसा होती थी, इस लिए भगवान् बुद्ध ने वेदों का विरोध किया था। कौत्स जैसे आचार्यों ने भी परम्परागत रीति से वेदों के जो अर्थ बतलाये जाते थे उस पर प्रश्नचिह्न लगा दिया था। अतः ब्राह्मण-संस्कृति के पक्षधर आचार्यों की ये इतिकर्तव्यता बन गई थी कि वेदमन्त्रों को वे सार्थक बतावें और इन अर्थों की प्रमाण-पुरस्सरता भी प्रस्थापित करें।

दूसरी ओर पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में लौकिक एवम् वैदिक – दोनों प्रकार के शब्दों का अन्वाख्यान किया है। यद्यपि पाणिनि भगवान् बुद्ध के प्रायः समकालिक है। तथापि पाणिनि ने मन्त्रार्थ के सन्दर्भ में कोई विवाद का नामशः निर्देश नहीं किया है। परन्तु वेदमन्त्र सार्थक है ऐसी आस्तिक परम्परा का अनुसरण करते हुए, पाणिनि ने लौकिक संस्कृत भाषा के व्याकरण के साथ साथ ही वैदिक भाषा के रूपवैविध्य का वर्णन किया है। पाणिनि के पूर्वकाल में जो वेद-विषयक साहित्य लिखा गया था उनमें शाकल्य का पदपाठ एवं कतिपय प्रातिशाख्य ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इस में जो वेद भाषा-सम्बन्धी चिंतन आकारित हुआ दिखाई दे रहा है वह वर्णसन्धि, पदच्छेद, वर्णोच्चारण-शिक्षा, उदात्तादि स्वर विषयक चर्चा तक सीमित है। अतः पाणिनि के लिये जो (पदपाठ एवं प्रातिशाख्यादि की) परम्परागत सामग्री उपलब्ध थी उसके सन्दर्भ में ही पाणिनि का मूल्यांकन करना चाहिये। क्योंकि यह भी सुविदित है कि पाणिनि का पुरोगामी हो ऐसा (केवल) लौकिक संस्कृत भाषा का व्याकरण प्रस्तुत करनेवाला एक भी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं होता है। तो – पाणिनि की अष्टाध्यायी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि इस तरह की थी ॥

२. यास्क एवं पाणिनि का लक्ष्य

यास्क ने जो निरुक्त ग्रन्थ की रचना की है, उसमें प्राधान्येन (अज्ञातकर्तृक)निघण्टु नामक वैदिक शब्दकोश में संगृहीत शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करने का ही लक्ष्य रखा है। निरुक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि – **समाम्नायः समाम्नातः । स व्याख्यातव्यः ॥** अर्थात् यास्क का निरुक्त

Vasant.Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

एक व्याख्या ग्रन्थ है, दूसरे शब्दों में कहे तो निघण्टु पर लिखा गया एक भाष्य-ग्रन्थ है। लेकिन बिना विलम्ब किये यह कहना होगा कि निघण्टु में संगृहीत किये गये शब्दों के (अज्ञात) अर्थ ढूँढने के लिए यह व्याख्या ग्रन्थ नहीं लिखा गया है। यद्यपि प्रायः ऐसा माना जाता है कि "वेदमन्त्रों मे प्रयुक्त जो जो शब्द दुर्बोध थे, या अज्ञातार्थक थे उसका संग्रह निघण्टु में किया गया है। अतः ऐसे अज्ञातार्थ शब्दों के अर्थ दिखाने के लिये यास्क ने निरुक्त लिखा है।" तो यह कथन समुचित नहीं है। क्योंकि निघण्टु के अन्दर, जो विभिन्न प्रकार के शब्दसंग्रहों रखे गये हैं उनमें सर्वत्र अर्थ-प्रदर्शन तो किया ही गया है। जैसे कि - **इति एकविंशति पृथिवी नामधेयानि। इति षोडश हिरण्यनामानि।** तथा, यास्क ने जहाँ, जो शब्द का निर्वचन दिया है वहाँ प्रायः "इस शब्द का यह अर्थ है - ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थ से जाना जाता है।" (**इति ह विज्ञायते। .... इति च ब्राह्मणम्...इत्यपि निगमो भवति**) ऐसा कहा है। अपि च, निर्वचन के सिद्धान्तों का विवरण देते समय यास्क ने जो कहा है कि - **अर्थनित्यः परीक्षेत। ....नैकपदानि निर्ब्रूयात्। ....यथार्थं निर्वक्तव्यानि।** इसका मतलब यह है कि यास्क ने संसार के सभी नैरुक्त (निर्वचन-कर्ता) के पास ऐसी अपेक्षा रखी ही है कि किसी भी शब्द का निर्वचन करने से पहले उस शब्द का अर्थ जानना अनिवार्य है। अर्थात् अर्थज्ञानपूर्वक ही निर्वचन करना चाहिए। इस चर्चा का निष्कर्ष यही निकलता है कि - निघण्टु में शब्दसंग्रह के साथ साथ जो अर्थ-निर्देश किया गया है एवं यास्क भी "ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऐसा अर्थ प्रचलित है" ऐसा जब कहते हैं तब, निरुक्त में अज्ञातार्थक वैदिक शब्दों का अर्थ ढूँढने के लिये निर्वचन दिये हैं - ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है॥

अब, निघण्टु के शब्दों पर व्याख्या करते समय यास्क का प्रयास किस दिशा का है, या किस लक्ष्य को ले कर यास्क चलते हैं - यह सूक्ष्मेक्षिकया पुनर्विचारणीय है। इस विषय पर दुबारा सोचने से मालुम होता है कि यास्क दो लक्ष्य को लेकर चल रहे हैं :- (1) **निर्वचनों के द्वारा** शब्दार्थ-सम्बन्ध की गवेषणा करना, (और उसके आधार पर वैदिक शब्दों के प्रचलित अर्थों को प्रामाणिकता प्रदान करना) तथा (2) **दैवत-काण्ड** के शब्दों की व्याख्या करते हुए वैदिक-देवता शास्त्र (Theology) को प्रस्तुत करना॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी की जो रचना की है, उसमें लोक की एवं वेद की संस्कृत भाषा का (**व्युत्पत्तिदर्शक**) व्याकरण प्रस्तुत करने का लक्ष्य रखा है। और पाणिनि ने जो व्याकरण लिखा है वह एक शब्दनिष्पादक तन्त्र (word-producing machine) के रूप में लिखा है। अर्थात् अष्टाध्यायी में - व्याक्रियन्ते पृथक्क्रियन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम् - ऐसे व्युत्पत्तिजन्य अर्थवाले (पृथक्करणात्मक) व्याकरण की प्रस्तुति नहीं है। यहाँ तो प्रकृति + प्रत्यय का संयोजन करके, आवश्यक ध्वनि-परिवर्तन के बाद लोक में और वेद में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों की निष्पादना (व्युत्पत्ति) प्रदर्शित की गयी है। यहाँ "शब्द" शब्द से पाणिनि को "वाक्य" ऐसा अर्थ अभिमत है - यह बात भूलना नहीं है। कहेने का तात्पर्य यही है कि पाणिनि का व्याकरण-तन्त्र वाक्य-निष्पत्ति के लक्ष्य को लेकर प्रवृत्त हुआ है ॥

पाणिनि से पहेले वेदों का पदपाठ एवं कतिपय प्रातिशाख्य ग्रन्थ लिखे गये थे। अतः पाणिनि की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भाषाचिन्तन का माहोल देखा जाय तो वर्णशिक्षा, पदच्छेद, सन्धिविचार, और उदात्तादि स्वर विषयक चर्चायें ही प्रवर्तमान थी। इस से सारांश यही निकलता है कि - पाणिनि के पूर्वकाल में, व्याकरणविद्या प्रायः भाषा के वर्णध्वनियाँ तक ही सीमित थी। किन्तु पाणिनि भाषा की जो बृहत्तम इकाई के रूप में वाक्य होता है, उसकी निष्पत्ति करने के लिए व्यापृत हुए है। और वाक्यसिद्धि के साथ जूड़े हुए पदरचना एवं सन्धिविचार का भी पूर्ण रूप से निरूपण करते हैं। तथा वे केवल लौकिक संस्कृत भाषा के व्याकरण तक सीमित न रह कर, वैदिक संस्कृत भाषा का भी अन्वाख्यान कर रहे हैं ॥

३. यास्क एवं पाणिनि का कार्य और कार्यपद्धति

यास्क एवं पाणिनि के **निर्वचन** तथा **व्युत्पत्ति** का स्वरूप देखने से पहले, ये दोनों आचार्य वाग्व्यवहार में प्रचलित शब्दों के मूलभूत रूप के बारे में कौन सी अवधारणा रखते हैं - यह भी प्रथम ज्ञातव्य है। यास्क ने वैसे तो भाषा में चार प्रकार के शब्दों - नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात - का होना मान्य रखा है, परन्तु उनकी चर्चा का केन्द्रभूत स्थान तो है 'नाम' प्रकार के शब्दों। शाकटायन नामक वैयाकरण को अपना गुरु मानते हुए यास्क ने

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

कहा है कि – भाषा में प्रयुक्त होनेवाले सभी नाम आख्यातज होते हैं ।[3] अर्थात् यास्क सभी नामों को यौगिक (व्युत्पन्न) मांनते हैं । दूसरे शब्दों में कहे तो – सभी नाम क्रियावाचक धातु से ही निष्पन्न हुये है । परन्तु इस विषय में पाणिनि की मान्यता कुछ अलग है । पाणिनि गार्ग्य नामक नैरुक्त को अपना गुरु मानते हुए, कहेते है कि भाषा में प्रयुक्त होनेवाले सभी नाम व्युत्पन्न नहीं है ।[4] पाणिनि स्पष्टतया ऐसा मानते हैं कि भाषा में बहुशः नाम यौगिक हो सकते है, किन्तु सभी नामों को यौगिक (व्युत्पन्न) बताना साहसमात्र है ।

भाषा में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के स्वरूप को लेकर यह जो मूलभूत अवधारणा में ही भेद है – उसी में दोनों आचार्यों के कार्यों का भी भेद अन्तर्निहित है । निरुक्त के प्रथमाध्याय में दुर्गाचार्य ने कहा है कि – शब्द तीन प्रकार के होते हैं : 1. अतिपरोक्षवृत्तिवाले, 2. परोक्षवृत्तिवाले तथा 3. प्रत्यक्षवृत्तिवाले[5] । यास्क ने निघण्टु में संगृहीत अतिपरोक्षवृत्तिवाले शब्दों का जब निर्वचन दिया है तब उन्हों ने पहेले अतिपरोक्षवृत्तिवाले शब्द को परोक्षवृत्ति में परिवर्तित किया है, और बाद में उसे प्रत्यक्षवृत्ति में ढाल कर, उस शब्द (नाम) में अन्तर्निहित धातु का प्रदर्शन किया है । शब्द के द्वारा जो अर्थ उद्घाटित होता है, वह भी प्रामाणिक माना जायेगा कि जब उस अर्थ को धातुसाधित बताया जाय । इसी लिये प्रत्येक नामों में अन्तर्निहित धातु दिखाना आवश्यक है । उदाहरण के रूप में – निघण्टवः । यह अतिपरोक्षवृत्तिवाला शब्द है, उसको निगन्तवः । जैसे परोक्षवृत्तिवाले शब्द में परिवर्तित किया गया है और अन्त में निगमयितारः । जैसे प्रत्यक्षवृत्तिवाले शब्द-स्वरूप में ढाल कर, उसे नि उपसर्गपूर्वक गम् धातु से निकला हुआ शब्द कहा गया है । अब उसका जो अर्थ है (अर्थ का निगमन करानेवाले शब्द को 'निघण्टु' कहते है – वह) प्रमाण-पुरस्सर का ही है ऐसा सिद्ध होता है ।

---

3. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च । – निरुक्तम् अ. 1

4. न सर्वाणीति गार्ग्यो, वैयाकरणानाञ्चैके । – निरुक्तम् अ. 1

5. त्रिविधा शब्दव्यवस्था – प्रत्यक्षवृत्तयः, अन्तर्लीनक्रियाः परोक्षवृत्तयः अतिपरोक्षवृत्तिषु शब्देषु निर्वचनाभ्युपायः । तस्मात् परोक्षवृत्तिताम् आपाद्य प्रत्यक्षवृत्तिना निर्वक्तव्याः इति प्रत्यक्षवृत्तिः । यस्मान्निगमयितार एते निगन्तव इति, निघण्टव इत्युच्यते ॥ निरुक्तम् – (दुर्गाचार्यस्य टीकया समेतम् – पृ .44) सं मनसुखराय मोर, कोलकता, 1943.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

यास्क ने शाकटायन का अनुसरण करते हुए सभी नामों को यौगिक (व्युत्पन्न) माने है। परंतु पाणिनि ने, उससे विपरित भाषा में प्रयुक्त होनेवाले प्रत्येक नामशब्द को व्युत्पन्न नहीं माना है। भाषा में बहुशः नाम यौगिक है ऐसा दिखाई दे रहा है, परन्तु ऐसे भी शब्द काफी है कि जिसकी रचना कैसे हुई होगी यह कहेना अतिकठिन भी है। अतः पाणिनि ने व्युत्पत्ति की दृष्टि से जो दुर्बोध या अबोध शब्द देखे हैं (जिन को दुर्गाचार्य ने परोक्षवृत्तिवाले या अतिपरोक्षवृत्तिवाले शब्द कहे है) उनके लिए निपातन तथा पृषोदरादिगण की व्यवस्था की है, या उणादि-प्रत्ययों की ओर अङ्गुलिनिर्देश कर दिया है। पाणिनि ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं देते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि वाक्यान्तर्गत चार प्रकार के शब्दों में से यदि त्रिविध नामों में से, यास्क का कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से अतिपरोक्षवृत्तिवाले नाम ही है, तो तीन प्रकार के नामों में से पाणिनि का कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से प्रत्यक्षवृत्तिवाले नाम ही है ॥

अब दोनों आचार्यों की कार्यपद्धति को समझने के लिए निर्वचन एवं व्युत्पत्ति का स्वरूप देखना होगा। (क) यास्क ने निघण्टु में आये हुये समुद्र शब्द का निर्वचन इस प्रकार दिया है :- समुद्रः कस्माद्। समुद् द्रवन्ति अस्माद् आपः। सम् अभि द्रवन्ति एनम् (प्रति) आपः। संमोदन्ते अस्मिन् भूतानि। समुदको भवति। समुनत्ति इति वा। (निरुक्तम् 2-10) यहाँ पर एक समुद्र शब्द के लिये कुल मिला के पाँच निर्वचन प्रस्तुत किये गये हैं :-

1. सम् + उद् + द्रव् - इस में से (पृथिवी लोक में) पानी द्रवित होता है।

   (अर्थात् समुद्र शब्द अन्तरिक्ष का वाचक है)

2. सम् + अभि + द्रव् - पानी (निम्नगामी होने के कारण) इसकी और जाता है।

   (अर्थात् यहाँ समुद्र शब्द पार्थिव सागर का वाचक बनेगा)

3. सम् + मुद् - (बहुत पानी होने के कारण) उसमें जलचर आनन्द करते हैं।

4. सम् + उद (क) - जिसमें अच्छी तरह से पानी इकठ्ठा होता है।

5. सम् + उन्द् - जो (किनारे पर खडे आदमी को) भीगो देता है।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

वह समुद्र है ।

इसमें सम् उपसर्गपूर्वक द्रव्, मुद्, या उन्द् धातु-वाच्य क्रियाओं के (चरितार्थ होने के) कारण अपार एवं अगाध जल से भरे सागर को समुद्र कहा गया है । अर्थात् तत् तत् क्रियाओं को करने के कारण समुद्र समुद्र कहा जाता है ।

यहाँ पर, जो निर्वचन दिये गये है वे पार्थिव समुद्र तथा अन्तरिक्ष - ऐसे दोनों सुप्रसिद्ध अर्थों को प्रामाणिक करने के लिए पर्याप्त है । क्योंकि उपर्युक्त निर्वचनों में 1. जो धातु दिखाये गये है, उस धातु-वाच्य क्रिया को समुद्र चरितार्थ करता है, तथा 2. तत् तत् धातुओं की वर्णध्वनियाँ भी समुद्र शब्द में गुम्फित भी है ।

इस चर्चा का तात्पर्यार्थ यह होता है कि - यास्क ने निर्वचन देने के निमित्त से शब्दार्थ-सम्बन्ध की ही विचारणा की है । एक और, निघण्टु में आया हुआ (या वेद में प्रयुक्त) समुद्र जैसा कोई शब्द है, और दूसरी और इस शब्द के प्रचलित अर्थ है । इन दोनों का सम्बन्ध उपरि-निर्दिष्ट क्रिया-वाचक धातुओं के साथ रहा है । पूर्वोक्त निर्वचनो में जिन धातुओं का प्रदर्शन किया गया है, वे सब ऐसे है कि इन धातुओं के द्वारा वाच्य जो जो क्रियायें हैं वे समुद्र (नामक पदार्थ) चरितार्थ करता है । तथा इन धातुओं के अन्दर जो जो वर्णध्वनियाँ गुम्फित है, वह समुद्र शब्द में भी विद्यमान (श्रूयमाण) है । अतः यह कहना ही होगा कि - यास्क निर्वचनों के द्वारा ''शब्दार्थ-सम्बन्ध-धातुमूलक है'' ऐसा सिद्ध करते है और शब्दों के प्रचलित अर्थ यदि धातुमूलक है तो वह प्रामाणिक भी है ऐसा मानना ही होगा । यही तो था कौत्स को देने योग्य प्रत्युत्तर, और यही तो थी यास्क की निरुक्त लिखने की इतिकर्तव्यता ॥

अब, (ख) लौकिक एवं वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति प्रस्तुत करने के लिये पाणिनि की जो सोपानबद्ध प्रक्रिया है उसका निरुपण करना होगा :-

पाणिनि ने पृथक्करणात्मक व्याकरण न लिख कर, प्रकृति + प्रत्यय का संयोजन करके शब्द निष्पादनात्मक व्याकरण लिखा है । जिसमें, आरम्भ में वक्ता के विवक्षितार्थों की वाचक प्रवृत्ति एवं प्रत्यय स्थापित किये जाते है । उसके बाद, स्थान्यादेश-भाव की प्रयुक्ति से प्रकृति एवं प्रत्ययांश में आवश्यक

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

परिवर्तन करने के आदेश दिये जाते है और तत्पश्चात् प्रकृति के अन्तिम वर्ण तथा प्रत्यय के आदि वर्ण पास पास में (संहिता-स्थिति में) आ जाने के कारण सन्धि-कार्य होते है। जिसके फल स्वरूप इष्ट रूप की (प्रयोगार्ह पद की) सिद्धि सम्पन्न होती है। उदाहरण के रूप में – (कोई क्रिया के उपलक्ष्य में)

1. कुठार + साधकतम पदार्थ (रूपी विवक्षित अर्थ) होता है,
2. कुठार + करण-कारक संज्ञा (साधकतमं करणम्। सूत्र से संज्ञा-विधान)
3. कुठार + टा – भ्याम् भिस् (तृतीया विभक्ति के प्रत्ययों की उत्पत्ति)
4. कुठार + टा (एकत्व की विवक्षा में टा की पसंदगी की जाती है)
5. कुठार + इन (अदन्त प्रकृति होने के कारण टा के स्थान में इन का आदेश किया जाता है।)
6. कुठारेन ॥ (अ + इ ये दो वर्ण संहितावस्था में पास पास आने से वर्णसन्धि होती है।), ततः–
7. कुठारेण ॥ (यहाँ प्रकृतिस्थ रेफ से परे आये न वर्ण का ण वर्ण में परिवर्तन हो जाता है।) कुठारेण (प्रहरति) ॥

पाणिनि इस तरह वक्ता के विवक्षित अर्थ को व्यक्त करने के लिए, वाक्य रूप पूरी इकाई की ही निष्पति (साधनिका) प्रस्तुत करते हैं। और वाक्यान्तर्गत सुबन्त एवं तिङन्त पदों की (युगपत्) निष्पत्ति करने के लिए, प्रकृति + प्रत्यय का संयोजन करने की पूरी प्रक्रिया दिखाते हैं॥ इस को देख कर, लगता है कि यहाँ प्रकृति + प्रत्यय के संयोजन से शब्द उत्पन्न होते है। विशिष्टा उत्पत्तिरिति व्युत्पत्तिः ॥

पाणिनि ने व्युत्पत्ति अर्थात् शब्दों की विशेष उत्पत्ति जो दिखाई है, उसका वैशिष्ट्य यदि नामशः बताना हो तो यहाँ कहना होगा कि – 1. पाणिनि ने विवक्षित अर्थ को अपनी प्रक्रिया में आरम्भ-बिन्दु पर (in-put के रूप में) रखा है और तत्पश्चात् उसका प्रकृति एवं प्रत्यय में परिवर्तन करके, ध्वनिशास्त्र से सम्मत आवश्यक परिवर्तन के साथ (Out-put के रूप में) प्रयोगार्ह रूपसिद्धि तथा अन्ततो गत्वा वाक्यसिद्धि प्रदर्शित की है। तथा 2. नामपदों की एवं क्रियापदों की रूपसिद्धि करने के लिये पाणिनि ने पहेले तो सुप् एवं

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

तिङ् जैसे सर्वसाधारण (21 तथा 18) प्रत्ययों की शृङ्खला प्रस्तुत की है, और उसके बाद स्थान्यादेशभाव की प्रयुक्ति से, एक ही प्रत्यंय अर्थात् एक ही रूपघटक में से विविध प्रकार के असंख्य रूपों का निर्माण करके दिखाया है ॥

४. यास्क एवं पाणिनि की कार्यसीमाओं का एक निदर्श

एक उदाहरण के माध्यम से यास्क एवं पाणिनि की कार्यसीमाओं का रेखाङ्कन करना उचित रहेगा :-

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।

(ऋग्वेदः 10-71-7) ।

अक्षण् ऽ वन्तः । कर्ण ऽ वन्तः । सखायः । मनः ऽ जवेषु । असमाः । बभूवुः ।

यहाँ पर अक्षण्वन्तः - ऐसा जो शब्द है उसके पदपाठ में स्पष्ट रूप से दो अंश पृथक् तया दिखाये जाते हैं। यथा - । अक्षण्ऽवन्तः । भाग्यवशात् हमारे दोनों आचार्यों ने इसी एक शब्द पर अपनी दृष्टि से निर्वचन और व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है ।

पदपाठकार ने यहाँ तद्धितान्त शब्द के जिन दो (प्रकृति तथा प्रत्यय) अंशो को पृथक् करके पदपाठ में दिखलाये है, इन में से प्रथम अक्षि ऐसे नामशब्द का निर्वचन यास्क ने दिया है। तथा पाणिनि ने प्रत्ययांश के रूप में अवस्थित वन्तः ऐसा जो अंश है उसकी व्युत्पत्ति करके दिखाई है। तद्यथा-

यास्क अक्षि शब्द के दो निर्वचन निम्नोक्त शब्दों में दे रहे हैं :-

1. अक्षि चष्टेः । 2. अनक्तेः इति आग्रायणः । तस्माद् एते व्यक्ततरे इव भवतः इति ह विज्ञायते ॥ (निरुक्तम्-1-9) अर्थात् यास्क के मत से अक्षि शब्द दो धातुओं से निष्पन्न हुआ है। 1. चक्ष् धातु से, (जिसका अर्थ 'दिखाना' होता है), तथा 2. अञ्ज् धातु से, (जिंसका अर्थ 'दिखाना' होता है) मतबल की हमारी आँखे 1. देखने की तथा 2. दिखाने की क्रिया करती है - अतः चक्ष् या अञ्ज् धातु से यह अक्षि शब्द का अवतार हुआ है - ऐसा हम निश्चित रूप से कह सकते हैं। परन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि यास्क ने एक नामवाचक शब्द के रूप में केवल अक्षि शब्द पर ही ध्यान केन्द्रित

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

करके उसका निर्वचन देने का (ही) कार्य किया है। वे वन्तः जैसे प्रत्ययांश के सन्दर्भ में कुछ भी नहीं कहेते हैं ॥

पाणिनि ने ऋग्वेद के इसी शब्द को लेकर, उसका प्रत्ययांश कैसे व्युत्पन्न होता है इसकी ओर ही ध्यान आकृष्ट किया है। पाणिनि की दृष्टि में अक्षि शब्द एक अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। (क्योंकि 436 अशेर्नित्। 3-156 – इस उणादिसूत्र से अक्षि शब्द की सिद्धि होती है।) पाणिनि के लिये यह नाम की व्युत्पत्ति क्या हो सकती है ? यह चर्चा का विषय नहीं है।

अक्षण्वन्तः शब्द की सिद्धि कैसे की जाय – यह बताने के लिये, पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में एक सूत्र लिखा है :- **अनो नुट्।** (पा. सू. **8-2-16** (इस सूत्र के द्वारा नुट् आगम का विधान किया गया है। काशिकावृत्ति में इस सूत्र का अर्थ बताया है कि – **छन्दसि इति वर्तते। अनन्तादुत्तरस्य मतोर्नुडागमो भवति छन्दसि विषये।**[6] अर्थात् छन्द (=वेद) के विषय में, अन्नन्त (=अन् अन्तवाले शब्द) के पीछे आये हुए मतुप् प्रत्यय को नुट् आगम होता है। इस सूत्र का विनियोग करके जिस तरह से पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में ऋग्वेद के अक्षण्वन्तः शब्द की रूपसिद्धि की जाती है उसका अभ्यास करना आवश्यक है :-

1. अक्षि + मतुप्। – यहाँ तदस्यास्तीति मतुप्। से मतुप् प्रत्यय का विधान,
2. अक्षि + वतुप्। – अब, छन्दसीरः (8-2-15) से म कार को व कार होता है।
3. अक्षि + अनङ् + वत्। यहाँ, छन्दस्यपि दृश्यते (7-1-76) से अनङ् आदेश,
4. अक्ष + अन् + वत्।
5. अक्षन् + वत्। – अब, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य। (8-2-7) से न् कार का लोप,
6. अक्ष० + वत्। – अब, भूतपूर्वगति का आश्रयण करते हुए, पूर्वोक्त

---

6. काशिकावृत्तिः। (षष्ठो भागः) सं. द्वारि॰॰प्रसाद शास्त्री, तारा पब्लीकेशन्स, वाराणसी, 1967. पृ. 303

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

सूत्र (अनो नुट्) से अक्ष(न्) शब्द के उत्तर में आये हुए मतुप् (वतुप्) प्रत्यय को नुट् आगम किया जाता है ।

7. अक्ष + नुट् वत् । - वत् से पूर्व में नुट् (=न्) आगम् लगाया जाता है ।

8. अक्ष + न् वत् । -अब, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि । से न् को ण् त्व विधि की जायेगी ।

जिससे - अक्षण्वत् शब्द तैयार हो जायेगा ॥

- आगे चल कर, अक्षण्वत् प्रातिपदिक में से अक्षण्वतः (प्रथमा विभक्ति बहुवचन) शब्द की सिद्धि की जायेगी । यहाँ **वैयाकरणों की दृष्टि में**, नुट् आगम का परादिवद् भाव मानना है । जिसके फल स्वरूप - ण्वत् - इतना भाग प्रत्ययांश कहा जायेगा ।

यहाँ, यास्क ने केवल प्रकृत्यंश (अक्षि) को लक्ष्य बनाके निर्वचन दिया है, और प्रत्ययांश के सन्दर्भ में कुछ नहीं कहा है । दूसरी ओर, पाणिनि ने इसी शब्द के केवल प्रत्ययांश को लक्ष्य बना के, उसकी व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है । तथा अक्षि जैसे प्रकृत्यंश के लिये कुछ नहीं कहा है ॥ इस एक उदाहरण से मालुम हो जाता है कि दोनों आचार्यों की कार्यसीमायें (एवं कार्यपद्धति) बहुशः अलग ही है ॥

प्रासङ्गिक रूप से यहाँ एक रोचक बात भी बतानी आवश्यक है :- यास्क अक्षण्वन्तः शब्द में से केवल अक्षि - जैसे प्रकृत्यंश का ही निर्वचन देते हैं । परन्तु वे पदपाठकार ने जो पदच्छेद (अक्ष ण् ऽ वन्तः) दिया है, उसको ध्यान में नहीं लेते हैं । अर्थात् वे अक्षन् (ण्) को प्रकृति मान कर कुछ नहीं करते हैं । और उस पदच्छेद के बारे में कोई विवाद भी नहीं करते हैं । लेकिन इस सन्दर्भ में वैयाकरणों ने कड़ी आलोचना की है । पाणिनि ने वत् प्रत्यय को नुट् आगम का विधान किया है, और जिसके फल स्वरूप ण्वन्तः जैसे प्रत्ययांश की सिद्धि हुई है । इस लिये, शाकल्य ने पदपाठ में जो । अक्षण्ऽवन्तः । ऐसा पदच्छेद किया है वह वैयाकरणों को मान्य नहीं है । अर्थात् वैयाकरणों की दृष्टि में अक्ष ऽ ण्वन्तः ऐसा ही पदपाठ करना चाहिये । अतः इस विसंगति को देखते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने एक गंभीर आलोचना की है, वह भी यहाँ स्मरणीय है :-

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

न हि लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः । पदकारैर्नाम लक्षणम् अनुवर्त्यम् ।।[७]

अर्थात् लक्षणकारों (=वैयाकरणों) को पदपाठकार का अनुसरण नहीं करना है। पदपाठकार के द्वारा हि लक्षणकारों (के नियमों) का अनुसरण होना चाहिये। अर्थात् यहाँ। अक्षण्ऽवन्तः। होना चाहिये कि। अक्षऽण्वन्तः होना चाहिये ? इस विषय में पतञ्जलि अपना मताग्रह जाहिर करते है कि पाणिनि के सूत्रों से जो पद की प्राप्ति होती है, उसी (अक्ष ऽ ण्वन्तः) को ही मान्यता देनी चाहिये। पुराकाल में शाकल्य के द्वारा भले ही। अक्षण्ऽवन्तः। ऐसा पदच्छेद किया गया हो, लेकिन आज उसे परिवर्तित कर देना चाहिये ।।

5. पाणिनि की अष्टाध्यायी में पूरे भाषा-प्रपञ्च का व्याकरण

यद्यपि अभी तक के जो आरूढ विद्वान् है, उन्हों ने पाणिनीय व्याकरण के अनेक वैशिष्ट्य हमारे सामने उद्घाटित किये हैं। तथापि पाणिनि की अष्टाध्यायी का बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग स्वरूप सर्वाङ्गीण रूप से बताने का सामर्थ्य तो शायद ही किसी में होगा। किन्तु प्रासंगिक रूप से कुछ मुख्य एवं ज्ञातव्य बिन्दुयें बताना जरुरी भी है :- महर्षि पाणिनि ने संस्कृत भाषा का जो अद्वितीय व्याकरण लिखा है वह वाक्यनिष्पति का व्याकरण है। (अर्थात् इस व्याकरण के सूत्रों के द्वारा एकाकी सुबन्त या तिङन्त पद की रूपसिद्धि करना सम्भव नहीं है।) तथा वाक्य की निष्पति के साथ साथ, इस व्याकरण के सूत्रों के द्वारा (विग्रह) वाक्यों में से वृत्तिजन्य पदों की रचना भी की जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि विवक्षित अर्थ को आरम्भबिन्दु माना जाय तो वहाँ से शूरु करके वाक्य-सिद्धि पर्यन्त का व्याकरण पाणिनि ने बनाया है। परन्तु यह व्याकरण वहीं पर रुकता नहीं है। वह फिरसे वही वाक्य को लेकर, उसका भी रूपान्तर करके कृदन्त या तद्धितान्त, या समासादि वृत्तिजन्य शब्दों का निर्माण भी करके दिखाता है। जिसके कारण पाणिनीय व्याकरण निरन्तर घुमता हुआ एक चक्र जैसा प्रतीत होता है।।[८] अतः हम कहे सकते

7. व्याकरण-महाभाष्यम्। (तृतीयो भागः) प्रकाशक - मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1967. पृ. 382

8. द्रष्टव्यः- पाणिनीय व्याकरण - तन्त्र, अर्थ और सम्भाषण सन्दर्भ। वसन्तकुमार भट्ट, एल.डी. इन्स्टीट्युट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद-2003

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

हैं कि - पाणिनीय व्याकरण में दो तरह की विधियाँ प्रदर्शित की गई है :-

पदत्व-सम्पादक विधियाँ और पदोद्देश्यक विधियाँ । 1. पदत्व-सम्पादक विधियों में (क) सुबन्त एवं तिङन्तपदों की रचनाओं का समावेश होता है। तथा (ख) सरूप एवं विरूप एकशेष शब्दो की रचनाओं का समावेश होता है। 2. पदोद्देश्यक विदियों में (क) कृदन्त, (ख) तद्धितान्त, (ग) समास, एवं (घ) सनाद्यन्त धातुओं की पद-रचनाओं का (वृत्तिओं का) समावेश होता है ॥ - इस में पूरे पाणिनीय व्याकरण का अशेष प्रपञ्च समाविष्ट हो जाता है ॥ यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से कहना होगा कि - यास्क अपने ग्रन्थ में इस तरह से पूरे वाग्व्यवहार (समग्र भाषा) को समाविष्ट नहीं करते हैं । बल्कि, निरुक्त लिखते समय इस तरह का उनका उपक्रम भी नहीं था ॥

६. अष्टाध्यायी में वैदिक भाषा के व्याकरण का स्वरूप

महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में लौकिक एवं वैदिक संस्कृत भाषा का व्याकरण एक साथ में प्रस्तुत किया है । यह उनकी अपूर्व एवं अद्वितीय सिद्धि है - उसमें भी कोई विवाद नहीं है । परन्तु यह प्रश्न विचारणीय है कि पाणिनि ने दोनों तरह की संस्कृत भाषा का व्याकरण एक साथ में कैसे (किस ढंग से) प्रस्तुत किया है । एक तो शूरु में जैसे कहा है - पाणिनीय व्याकरण पृथक्करणात्मक नहीं है, परन्तु प्रकृति + प्रत्यय का संयोजन प्रस्तुत करके वाक्य की निष्पादना करनेवाला व्याकरण है। तथा उसमें भी, पाणिनि ने अपने समकाल में जो लौकिक संस्कृत बोली जाती थी उस भाषा का वर्णन प्रस्तुत करने का आशय रखा है ।[९] लेकिन भाषा का वर्णन करते समय यह भी सम्भव था कि वे, वैदिक भाषा में से लौकिक संस्कृत भाषा की उत्क्रान्ति कैसे हुई है - यह ऐतिहासिक दृष्टि से व्याकरण की रचना करे । परन्तु पाणिनि ने इस तरह का भी वैदिक व्याकरण नहीं लिखा है । पाणिनि ने तो अपने अष्टाध्यायी व्याकरण में सर्वत्र लौकिक संस्कृत भाषा के निरूपण से प्रारम्भ करके, उस लौकिक संस्कृत के विरोध में वैदिक संस्कृत भाषा में क्या अन्तर है - इस तरह का निरूपण किया है । उदाहरण रूप से

9. (अर्थात् पाणिनि ने आदेशात्मक व्याकरण बनाने का भी उपक्रम नहीं रखा है।) पाणिनि के व्याकरण को "Descriptive Generative Grammar" कहा गया है । उसे Prescriptive Grammar नहीं कहा जाता है।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

देखे तो – **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** । 1-4-56 सूत्र से निपातों का वर्णन आरम्भ करके, प्रादयः । (1-4-58), उपसर्गाः क्रियायोगे । (1-4-59) से कहा है कि प्रादिनिपात उपसर्गसंज्ञक है और उसका क्रियापद के योग में प्रयोग होता है। तथा, ते प्राग्धातोः (1-4-80) से बताते है कि उपसर्ग (एवं गतिसंज्ञक) का प्रयोग धातु के पूर्व में ही होता है। – यहाँ पहेले लौकिक संस्कृत भाषा की व्यवस्था बतायी गई है। तत्पश्चात् आगे चल कर पाणिनि कहते है कि छन्दसि परेऽपि । (1-4-71), व्यवहिताश्च । (1-4-82) – अर्थात् वेदमन्त्रों में ये उपसर्गसंज्ञक प्रादि निपात धातुओं (क्रियापदों) के पीछे भी प्रयुक्त होते हैं, और कदाचित् किसी भी दो शब्दों के व्यवधान में भी प्रयुक्त होते है। यथा – 1. हरिभ्यां याह्योक आ । 2. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि ॥ (यहाँ **याहि** क्रियापद के पीछे **आ** का प्रयोग है, एवं आ और **याहि** के बीच में अन्य नामपदों का प्रयोग भी हुआ है।) इसी तरह से छन्दसि च । (6-3-126), छन्दस्युभयथा। (6-4-5) तुमर्थे सेसेनसेअसेन्कसेकसेन .... । (3-4-9) इत्यादि सूत्रों से लौकिक संस्कृत भाषा के विरोध में वैदिक संस्कृत भाषा का वर्णन बाद में ही किया गया है ॥

अब वैदिक संस्कृत भाषा का वर्णन करने के लिए पाणिनि ने जो वर्णनात्मक शैली अपनायी है उसे देखे तो – पाणिनि ने **व्यत्ययो बहुलम्। बहुलं छन्दसि । विभाषा छन्दसि । अन्येभ्योऽपि दृश्यते** । जैसे सूत्रों प्रस्तुत करके लौकिक शब्द-प्रयोग के अनुसंधान में वैदिक शब्द-प्रयोगों की अनियमितता ही बार बार उल्लिखित की है। यानें वेद की भाषा में नियमित प्रयोगों की परिगणना ही सुदुर्लभ है, और केवल अनियमितता ही सार्वत्रिक रूप से प्रवर्तमान है ऐसा पाणिनि का निरीक्षण है ॥

तथापि यह भी कहना होगा कि – यास्क की अपेक्षा से पाणिनि ने वैदिक भाषा के लिए बहुत कुछ अधिक कहा है। जैसे कि – 1. यास्क ने वैदिक क्रियापदों के सन्दर्भ में कुछ भी नहीं कहा है। लेकिन पाणिनि ने सभी प्रकार के क्रियापदों की विभिन्न अर्थच्छायायें बताई है। 2. वैदिक क्रियापदों के रूप-वैविध्य को भी विस्तार से उल्लिखित किया है। एवं 3. लौकिक संस्कृत भाषा के प्रत्येक धातु, प्रत्ययादि, सम्बोधन वाचकादि पदों में तथा वेदमन्त्रों के शब्दों मे उदात्तादि स्वर कैसे होते हैं – इन सब का निरूपण किया है। परन्तु

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

यास्क ने इन में से किसी का भी वर्णन नहीं किया है। 4. पाणिनि ने स्वरभेद के आधार पर अर्थभेद होता है – इस विषय का जो निरूपण षष्ठाध्याय में किया हैं वह ध्यानाकर्षक है। यास्क इस विषय की ओर केवल अङ्गुलिनिर्देश करके रूक जाते हैं॥

उपसंहार

यास्क ने वेदमन्त्रों के शब्दों का आख्यातजत्व दिखला कर वेदमन्त्रों के प्रचलित अर्थों की प्रमाण-पुरस्सरता सिद्ध की है। वेदशब्दों के **निर्वचन के निमित्त से** उन्होंने, भाषा में शब्दार्थ-सम्बन्ध की गवेषणा का भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस तरह, यास्क की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जो कौत्स जैसे वेदविरोधी आचार्यों खडे थे, उस विरोध के अनुसन्धान में प्रचलित वेदार्थों का समर्थन करके उन्हों ने अपनी इतिकर्तव्यता दृढता से और पूर्णतया निभाई है। तथा शव्दार्थ-सम्बन्ध की गवेषणा करके भाषाचिन्तन में अपना चिरस्मरणीय विशिष्ट योगदान दिया है॥

तथा पाणिनि की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जो व्याकरण-विचार केवल वर्ण और पद तक सीमित था, उसको देखते हुए हम कह सकते हैं कि भाषाचिन्तन के क्षेत्र में पाणिनि का योगदान तो विश्वतोमुखी है। संस्कृत भाषा के लौकिक एवं वैदिक दोनों स्वरूप का वर्णन करनेवाले वैयाकरण के रूप में वे न केवल प्रथम आचार्य है, वे अद्यावधि अद्वितीय भी है। उन्हों संस्कृत भाषा के प्रकृति+प्रत्यय की संयोजना दिखाने के लिए जो व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की है, और उसके लिए जो स्वोपज्ञ वाक्यनिष्पत्ति की प्रक्रिया का प्रदर्शन किया है वह आज की वैज्ञानिक तकनिकों से बहेतर एवम् उन्नत्तर है।

पाणिनि और यास्क का काल-निर्धारण-एक अनुल्लिखित सन्दर्भ :-

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में कतिपय ऐसे सामाजिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों का निर्देश किया है कि जिसके आधार पर यास्क का पुरोवर्तित्व एवं पाणिनि का उत्तरवर्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में – **इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम् – इन्द्रदृष्टम् – इन्द्रजुष्टम् – इन्द्रदत्तम् इति वा। ५-२-९३॥**

इस सूत्र में पाणिनि ने कहा है कि – इन्द्रियम् ऐसा अन्तोदात्त स्वरवाला

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

शब्द निपातन से सिद्ध होता है। परन्तु वह शब्द इन्द्रस्य लिङ्गम्, इन्द्रेण दृष्टम्, इन्द्रेण सृष्टम्, इन्द्रेण जुष्टम्, इन्द्रेण दत्तम् – जैसे अर्थो में प्रयुक्त होता है।

(काशिकावृत्तिकार यहाँ कहते हैं कि – **इतिकरणः प्रकारार्थः । सति सम्भवे व्युत्पत्तिरन्यथापि कर्तव्या** । अर्थात् इन्द्रेण दुर्जयम् । इस वाक्य का अर्थ ''आत्मा से जो जितना मुश्कील है, वह इन्द्रिय है'' यहाँ इन्द्रिय शब्द में रहे इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा होता है।)

इन्द्र देवता का पुराकथाशास्त्रीय अध्ययन करने से मालुम होता है कि – वेदमन्त्रो में, इन्द्र मूल में युद्ध के देवता थे, उसके बाद वह वृष्टि के देवता बनाये गये है। और अन्ततोगत्वा वह परमात्मा के स्थान पर भी स्थापित किये गये है। अतः शरीर में स्थित चैतन्य स्वरूप आत्मा को भी इन्द्र कहा गया है। दूसरी और लिङ्ग शब्द का अर्थ होता है :- लीनम् अर्थम् गमयति इति लिङ्गम् । अर्थात् शरीर में छीपे हुए आत्मा का अस्तित्त्व इन्द्रिय रूपी लिङ्ग से अनुमित होता है। अतः ''इन्द्रियम्'' शब्द का प्रथम अर्थ होता है – इन्द्रस्य लिङ्गम् । (काशिकाकार कहते है कि – **इन्द्र आत्मा । स चक्षुरादिना करणेन अनुमीयते, न अकर्तृकं करणम् अस्ति** ।)

यास्क ने निरुक्त के दशम अध्याय में इन्द्र शब्द के जो विभिन्न निर्वचन दिये है, (**इन्दवे द्रवति इति वा, इन्दौ रमते इति वा । ९-८, इन्द्रः कस्माद् । इरा अन्नम्, तेन सम्बन्धात् तद्हेतुभूतम् उदकं लक्ष्यते । लक्षितलक्षणया तेनापि तदाधारभूतो मेघः (१०-९)** वह इन्द्र देवता को प्राधान्येन सोमप्रिय एवं वृष्टि के देवता के रूप में वर्णित करते हैं। परन्तु पाणिनि पूर्वोक्त सूत्र (5-2-93) से जो इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति देते हैं, उसमें आत्मारूपी दार्शनिक अर्थवाले इन्द्र शब्द को लेकर, घञ् प्रत्यय का विधान करते है। घञ् को इय आदेश हो कर, इन्द्र से इन्द्रिय शब्द सिद्ध होता है।

यहाँ ध्यातव्य बात यह है कि पाणिनि ने वृष्टि के एक देवता रूप में इन्द्र का जो वेदोक्त स्वरूप है, जिसको हम पुराकथाशास्त्रीय व्यक्तित्व कहते है, उसका निर्देश पूर्वोक्त सूत्र में नहीं किया है। परन्तु तदुत्तरवर्ती काल का दार्शनिक स्वरूप ध्यान में लेते हुए – इन्द्रलिङ्गम्, इन्द्रसृष्टम् इत्यादि कहा गया है। इसी तरह से, पाणिनि ने **ब्रह्म-भ्रूण-वृत्रेषु क्विप्** । **३-२-८७** सूत्र से ब्रह्महा – भ्रूणहा (दिति के भ्रूण की हत्या करनेवाला, दिति से मरुद्गण की

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

उत्पत्तिं कथा) जैसे शब्दों की जो सिद्धि की है, इससे सूचित होता है कि महर्षि पाणिनि ने उत्तरवर्ती काल की पुराकथाओं का ही उल्लेख (उपयोग) किया है। – इन दों सूत्रों से स्पष्टतया अनुमित हो सकता है कि पाणिनि यास्क के पुरोगामी आचार्य नहीं हो सकते हैं ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूचि :

काशिकावृत्ति : । (षष्ठो भागः) सं. द्वारिकाप्रसाद शास्त्री, तारा पब्लीकेशन्स, वाराणसी, 1967

निरुक्तम् – (दुर्गस्य व्याख्यया सहितम्) सं. मनसुखराय मोर, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला 10, कलकत्ता 1952

पाणिनीय व्याकरण – तन्त्र, अर्थ और सम्भाषण सन्दर्भ । वसन्तकुमार म. भट्ट. एल.डी. इन्स्टिटयूट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद–2003

व्याकरण-महाभाष्यम् । (तृतीयो भागः) प्रकाशक – मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1967

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, (प्रथम भाग) ले. पं. श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक, सोनीपत,

(हरियाणा), चतुर्थ संस्करण, सं. 2041 (ई.स. 1984)

Panini: A Survey of Research, by Prof. George Cardona, Motilal Banarasidass Delhi, 1980

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

13

सामवेदीय ऋक्-तन्त्र-प्रातिशाख्य का विवेचनात्मक अभ्यास*

1.
सामवेद का परिचय

देवों का अर्चन, स्तवन करने वाली 'ऋक्' होती है, और ऐसी ऋचाओं के संग्रह को ऋग्वेद कहते है।[1] यजुर्वेद में उन देवताओं को यज्ञादि क्रिया में आहुति प्रदान करने के लिए प्रयुक्त होनेवाले यजुस् मन्त्रों का संग्रह किया गया है। किन्तु सामवेद में तो ऋग्वेद के ही मंत्रो का चयन करके संग्रह किया गया है। (सामवेद के जो दो भाग 'पूर्वार्चिक' एवं 'उत्तरार्चिक' के नाम से पहचाने जाते है, उनमें से 'आर्चिक' शब्द का अर्थ भी ''ऋचाओं का समूह' ऐसा होता है।) इस 'सामवेदसंहिता' को (मन्त्र-समूह को) 'सामगान की योनि' मानी जाती है।[2] अर्थतः यह फलित हुआ कि सामवेद-संहिता के मन्त्रों का जब विशिष्ट रूप से गान किया जाता है, तब उस गान को सामवेद कहते है।[3]

* 'महर्षि सांदीपनि राष्ट्रिय वेदविद्या प्रतिष्ठान', उज्जैन एवं महर्षि वेदविज्ञान अकादमी, अहमदाबाद के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित ''सामवेद-परिसंवाद' (21-23 January 1995), भागवत विद्यापीठ, सोला में प्रस्तुत लेख ॥

1. ऋक् अर्चनी भवति। (वेङ्कटमाधव)
2. ऋच्यध्यूढं साम। (छान्दो. उप. 1-6-1)
3. ऋचि साम गीयते। (शतपथब्रा. 8-1-33)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

२

इस सामगान के अंतर्गत जो ध्वनिविकारादि किये जाते है, उसका विवेचन करने के लिए प्रातिशाख्य-ग्रन्थों की रचना की गई है । किन्तु 'प्रातिशाख्य' शब्द सूचित करता है कि किसी भी वेद की जितनी ही शाखायें होती है, उन प्रत्येक शाखा से सम्वद्ध ध्वनिविकारादि का निरूपण करने के लिए प्रत्येक शाखा का एक-एक प्रातिशाख्य होना चाहिए ।[४] और समान्तर रूप से ऐसी भी विचारधारा प्रचलित है कि किसी एक वेद की जितनी शाखायें होती है उतने ही (अर्थात् बहुसंख्य) प्रातिशाख्य थे ही नहीं । परंतु प्रत्येक वेद की अनेक शाखाओं के ध्वनिविकारादि की चर्चा करनेवाला कोई एक ही सामान्य प्रातिशाख्य होता है । था ।[५] इस दृष्टि से पहेले यह जानना चाहिए कि सामवेद की कितनी शाखायें है, और उनके कितने प्रतिशाख्य है ?

शतपथ ब्राह्मण में 'साम वै सहस्र वर्त्मनि । (10-5-1-42) सामवेद की एक सहस्र शाखायें है ऐसा कहा गया है । ऐसा ही विधान पतञ्जलिने भी किया हैः सहस्रवर्त्मा सामवेदः । (पस्पशाह्निकम् 1-1-1). किन्तु कालान्तर में इनमें से अनेक शाखायें नष्ट हुई है - ऐसा 'चरणव्यूह' में कहा गया है ।[६]

प्रोफे. मॅक्सम्यूलर ने सामवेद की पाँच ही शाखायें थी ऐसा माना है। जैस कि - कौथुम, जैमिनीय, राणायनीय, गौतमी और नैगीय ।[७] इनमें से आज उपलब्ध होनेवाली शाखायें केवल तीन ही है : (क) कौथुम (ख) राणायनीय (जिनकी एक अवान्तर शाखा 'सात्यमुग्रि' है) और (ग) जैमिनीय (जिनकी एक अवान्तरशाखा का नाम 'तलवकार' है ।) ॥

---

4. शाखां शाखामिति प्रतिशाखम् । तत्र भवम् प्रातिशाख्यम् ॥ (द्रष्टव्यः 4-3-59 पा.सू. पर 'सिद्धान्तकौमुदी' की तत्त्वबोधिनी टीका में उद्धृत माधव का मत ॥

5. वीत्युपबन्धस्य व्यावर्त्य शाखान्तरे, नन्वेवमनेकशाखाविषयत्वे प्रातिशाख्यमिति ग्रन्थस्य आख्या विरुद्धेत । नैतदस्ति । द्वित्रिशाखाविषयत्वेऽपि तदसाधारणतयोपपत्तेः । तथा बहवृचाणां शाकलवाष्कलकात्मकशाखाद्वयविषयं प्रातिशाख्यं प्रसिद्धम् ॥ तैत्तिरीय प्रातिशाख्यम् (4-11) इत्यत्र उवटभाष्यम् ॥

6. सामवेदस्य किल सहस्रभेदा आसीद् अनध्यायेष्वधीयानास्ते शतक्रतुवज्रेणाभिहताः प्रनष्टाः ॥ चरणव्यूह (3).

7. द्रष्टव्यः Ancient Sanskrit Literature by F. Max Muller (p. 110.)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

प्रासंगिक रूप से यह भी उल्लेखनीय है कि परम्परा में सामवेद का पदपाठ गार्ग्य ने बनाया ऐसा माना जाता है ।[८] लेकिन प्रॉफे. सूर्यकान्तजीने 'ऋक्तन्त्र' की प्रस्तावना में लिखा है कि शाकटायन ने 1. सामवेद का पदपाठ, 2. व्युत्पत्ति शास्त्र और 3. ध्वनिशास्त्र विषयक कृतियाँ बनाई थी ।[९]

* * *

अब सामवेद के साथ सम्बद्ध प्रातिशाख्यों का विचार किया जाय तो

(1) **सामतन्त्र :** सामवेद की कौथुमशाखा के साथ सम्बद्ध जो प्रातिशाख्य है वह है 'सामतन्त्र' । उनके प्रणेता औदव्रजि है ऐसा माना जाता है। परन्तु पं. सत्यव्रत सामश्रमीने उनको गार्ग्य-प्रणीत माना है। इस सामतन्त्र में 13 प्रपाठक और 1311 सूत्र है। जिन में स्वर, मात्रा, गान, सन्धि इत्यादि का वर्णन किया गया है ।

(2) **अक्षरतन्त्र :** आपिशलि मुनिने 'सामतन्त्र' के परिशिष्ट के रूप में एक 'अक्षरतन्त्र' नामक लघुग्रन्थ लिखा है । रथन्तर इत्यादि गानों में जो योनिभूत ऋचाओं का प्रयोग होता है उसमें वर्ण, पदादि अधिक रूप से जोड़े जाते है। उन अधिक वर्णों, पदों इत्यादि को 'स्तोभ' कहते है (जिसका दूसरा नाम 'अक्षर' है ।) ऐसे स्तोभ इत्यादि को कहाँ कितना विस्तृत करना या संकुचित करना ? इनके नियमों का प्रस्तुतीकरण 'अक्षरतन्त्र' में मिलता है। उपलब्ध ग्रन्थ खण्डित स्थिति में है ।

(3) **पुष्पसूत्र :** इस में माध्यन्दिन पवमानादि कर्मों के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले सामगानों का विवरण किया गया है । जिसमें विशेष रूप से उत्तरार्चिक के मन्त्रों के द्वारा जो ऊहगान होते है, उसमें सामगान के सात स्वर (प्रथम, द्वितीयादि, षष्ठ और अति स्वार्य = धैवत) के अद्वितीय कर्षण,

---

8. बह्वृचाणां 'मेहना' इत्येकं पदम् । छन्दोगानां त्रीण्येतानि पदानि, 'म-इह ना' इति। तदुभयं पश्यता भाष्यकारेणोभयोः शाकल्य-गार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ ॥ निरुक्तम् (दुर्गाचार्यटीकासमेतम्) तृतीयो भागः सं. मनसुखराम मोर, कलकत्ता, 1952 (p. 358)

9. We have just noted that Sakatayana wrote a work on the pada text presumably of the SV, gave etymologies, that sounded peculier to others and also wrote on phonetics - see: ṚK-tantram. ed.by Dr. Suryakanta Shashtri, Delhi, 1970 (Second edition).

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

आतृतीय कर्षण इत्यादि के लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। इसके कर्ता का नाम पुष्पयशस् है। इस के उपर अजातशत्रु का भाष्य भी मिलता है।

(4) **ऋक्तन्त्र :** सामवेद के उपर्युक्त प्रातिशाख्यों की अपेक्षा से इस ऋक्तन्त्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस प्रातिशाख्य में किट्-किट् (2-1-10) संस्वाद और निगार (2-2-1), निगार, गति और हुम् (5-6-1) जैसे ध्वनियों का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है, और यह ध्वनियाँ केवल सामवेद में ही मिलती है। अतः इस ऋक्तन्त्र-प्रातिशाख्य का संबंध सामवेद के साथ ही है ऐसा सिद्ध होता है।[१०]

३

ऋक्-तन्त्र के कर्ता एवं समय

डॉ. सूर्यकान्त शास्त्रीजीने 'ऋक्तन्त्रप्रातिशाख्य' का समीक्षित पाठसम्पादन किया है।[११] उसकी प्रस्तावना में लिखा है कि - ऋक्-तन्त्र का मूल स्वरूप औदव्रजि नाम के आचार्य ने बनाया था, और कालान्तर में शाकटायन ने उस में नया संस्कार एवं परिवर्द्धन करके जो स्वरूप निश्चित किया है वह आज उपलब्ध होता है।[१२] दूसरी ओर पं. श्री युधिष्ठिर मीमांसकजीने कहा है कि 'औदव्रजि' एक वैयक्तिक नाम होगा, और 'शाकटायन' वह गोत्रनाम हो सकता

---

10. अन्य उपलब्ध प्रातिशाख्य इस प्रकार है:- (क) ऋग्वेद के साथ सम्बद्ध 1. शौनककृत ऋग्वेदप्रातिशाख्य, (ख) यजुर्वेद के साथ सम्बन्द्ध 2. वाजसनेयि प्रातिशाख्य और 3. कृष्ण यजुर्वेद के साथ जुडा हुआ तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा (ग) अथर्ववेद के साथ सम्बद्ध 4. अथर्वप्रातिशाख्य और 5. शौनकीय चतुरध्यायिका ॥

11. इसका पहला संस्करण महेरचंद लछ्मनदास संस्कृत बुक डेपो, लाहोर, 1933 A.D. में नीकला था, और द्वितीयावृत्ति दिल्ली से 1970 में प्रकाशित हुई है।

12. The original RK tantra was composed by Audavraji, who also wrote Samatantra, Pupspasutra and a grammar on bhasya which had a distinct set of Pratyaharas as is shown by the first prapathaka of the RT.

Sakatayana who may have been a follower of Audavraji, revised Audavraji's work, both on RT. Where he quotes him by the name (53) as well as in grammar where the former's work was superseded by that of the latter. The main sphere of Sakatayana's activity lay in grammar, hence it is futile to hunt all his doctrines in the RT. - See: Rktantra, Ed. Suryakanta, Delhi, 1970, (pp.39-40)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

है ।[13] इस तरह से यह कृति शाकटायन-प्रणीत मानी जाती है ।

'ऋक्तन्त्र' का रचनाकाल : यास्क (600 B.C.) ने 'निरुक्त' में शाकटायन का एक मत उद्धृत किया है : नामान्याख्यातजानीति शाकटायनः नैरुक्तसमयश्च । (अ-2) अतः यास्क से भी पूर्व (800 B.C.में) शाकटायन प्रादुर्भूत हुए होने की संभावना है । इस तरह शाकटायन विरचित मूल ऋक्तन्त्र ईसा के पूर्व 8वीं शती में रचा गया होगा । किन्तु कालान्तर में उसमें परिवर्तन और प्रक्षेपादि के प्रमाण भी मिलते है । जैसे कि ऋक्तन्त्र में अनेक सूत्र भाषा संबंधित भी है । (उदाहरण रूप से - भाषायां णी परयोः । 3-4-6, दीर्घं भाषायां प्रापवृणीतौ संवरणे । 4-7-8) तथैव अन्य अनेक सूत्रों के उपर पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का प्रभाव दिखाई देता है । (जैसे कि - ऋक्तन्त्र 4-5-5, 4-7-8 और पाणिनि का 6-1-35, 6-1-57, ऋक्तन्त्र 4-7-5 एवं पाणिनि का 6-1-15 इत्यादि ।) अतः ऐसा भी अनुमान होता है कि ऋक्तन्त्र का आज उपलब्ध होनेवाला स्वरूप पाणिन्युत्तरकालिक है । अर्थात् ईसा के पूर्व 5 वी शती में आज के ऋक्तन्त्र का प्रणयन हुआ होगा ॥ श्रद्धेय डॉ. सूर्यकान्त शास्त्रीजी के अभिप्राय से 'ऋकूतन्त्र' का वर्तमान कलेवर निम्नोक्त क्रम से और व्यक्तिओं के हाथ सम्पन्न हुआ होगा :

(1) औदव्रजि - मूल ऋक्तन्त्र के रचयिता ।

(2) शाकटायन - (संस्कार एवं संवर्धन--कर्ता)
(पाणिनि एवं कात्यायन का काल)

(3) आधुनिक काल में उपलब्ध होनेवाला ऋक्तन्त्र (जिस पर पाणिनि का प्रभाव दिखाई पड़ता है) ॥

४

ऋक्-तन्त्र का प्रतिपाद्य-विषय :

आरम्भ में 'ऋक्-तन्त्र की ग्रन्थव्यंवस्था - ग्रन्थपरिमाण का परिचय किया जाय तो - यहाँ पर कुल मिला के पाँच प्रपाठक मिलते हैं । उन प्रत्येक प्रपाठक में दश-दश सूत्रों के दशक आये हुए हैं । ऐसे 28 दशकों एवं अन्य

13. द्रष्टव्यः संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पं. युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, भाग-2, पृ. 386.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

छह सूत्रों कुल मिला के 286 सूत्र यहाँ पर आए हुए है। इन सूत्रों पर 'ऋक्तन्त्रविवृति' नाम की वृत्ति भी प्राप्त होती है ॥

पाँचों प्रपाठकों में प्रतिपाद्य विषय निम्न रूप से दिखाई पडता है :

(1) प्रथम प्रपाठक में एक भी सूत्र नहीं है। उस में वर्णोत्पत्ति कैसे होती है और संस्कृत भाषा में कितने वर्ण है ? इत्यादि संस्कृत ध्वनितन्त्र (Phonetics) विषयक सूक्ष्म चिंतन किया गया है। जैसे कि "वाणी की (प्र)वृत्ति इस प्रकार होती है। वाणी की प्रकृति वायु है। यह वायु जब ठोस – गाढ बनता है तब वह 'श्वास' कहलाता है। शाकटायनने ऐसे श्वास को नाद कहा है। (ज्वा गतिगन्धनयोः । ऐसी धातु के आधार पर) 'वायु' शब्द का अर्थ ही ऐसा होता है कि जो शरीर में (मूर्छित-अटति इति) घुमता है वह 'वायु' है। ऐसी वायु आकाशविशेष को, उदाहरणरूप से कण्ठ को प्राप्त करके श्वसिति अर्थात् 'श्वास' बनती है। ऐसा श्वसिति अर्थात् श्वास शिरः स्थान में, जो कि बिना द्वार का आकाश है उसको प्राप्त करके नदति (=नाद) बनता है। तथा यह नदति अर्थात् नाद जिह्वाग्र से प्रेरित होने पर 'व्यक्ति' रूप से प्रादुर्भूत होता है, और इसी व्यक्ति को ही "वर्ण' कहते है। जिनमें से कतिपय ओष्ठ्य-वर्ण, कण्ठ्य-वर्ण, तालव्य-वर्ण, मूर्धन्यवर्ण, दन्त्य वर्ण, नासिक्य-वर्ण और जिह्वामूलीय-वर्ण कहलाते है। जिस तरह से त्रपुकार त्रपु को पीघाल कर बिम्ब में संचारित करता है तो वह त्रुप बिम्ब का आकार धारण कर लेती है, और 'कांचिमणि', 'रुचक' या 'स्वस्तिक' के नाम से विदित होती है। उसी तरह से मुखविवर के विभिन्न आकाश (=स्थानविशेष) को जिह्वाग्र से वायु स्पर्श करती है और कण्ठ्य-वर्ण या तालव्यादि-वर्ण के रूप में व्यक्त होती है।

उसके बाद, ह्रस्व-दीर्घ भेदपूर्वक सभी समान स्वरों और चार सन्ध्यक्षरों का उपदेश किया है। तथा क् इति, ख् इति के लिए किति, खिति, गिति, घिति, ङिति, करके सभी स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्माक्षरादि व्यञ्जनों का प्रदर्शन किया गया है। साथ में विसर्जनीय, अनुस्वार, यम इत्यादि अयोगवाह ध्वनिओं का भी वर्णन किया है। वर्णों की पहचान के लिए 'कार' शब्द का प्रयोग करना चाहिए (ककार, खकार, गकार इत्यादि) ऐसी रसप्रद सूचना ऋक्तन्त्र की इस विवृत्ति में दी गई है। यहाँ पर प्रत्याहार-अर्थे जो वर्ण का प्रयोग

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

किया जाय उसे "अनुबन्ध" कहते है - ऐसी भी सूचना दी गई है। यद्यपि उत्तरवर्ती प्रपाठक में ऐसे कोई प्रत्याहार का प्रयोग नहीं मिलता है।[१४]

यहाँ प्रदर्शित वर्णसमूह का क्रम दर्शनीय है, और पाणिनीय माहेश्वर सूत्रों के साथ तुलनीय है। तद्यथा –

ए ओ ऐ औ आ ऋ लृ ई ऊ। ऋ लृ इ उ आः। र य व लाः। ङ ञ ण नमाः। घ झ ढ ध भाः। गजडदबाः। ख छ ठ थ फाः। क च ट तपाः। हशषसाः। अः≍कः≍पाः। हुं कुं खुं घुं अं आं एवम् .... ॥

इस वर्णसमूह के लिए 'ब्रह्मराशि' शब्द का प्रयोग किया गया है[१५] एवं इस की आगमपरम्परा बताते हुए कहा गया है कि ब्रह्मा ने बृहस्पति को, बृहस्पतिने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने ऋषिओं को, और ऋषिओं ने ब्राह्मणो को यह "अक्षर समाम्नाय" दिया है। सीखाया है। इस ब्रह्मराशि का भोजन करने के बाद या रात्रिकाल में उच्चारण नहीं करना चाहिए ॥ इस सूचना के साथ 'प्रथम-प्रपाठक' पूर्ण होता है।

(2) द्वितीय प्रपाठक में दश दश सूत्रों के सात दशक आये हुए है। उसमें वर्णो के उच्चारण-स्थानादि का सूत्रात्मक निरूपण है। जैसे कि (1) हाः कण्ठे। (2.1.2) हकार-अकार-आ कार और विसर्ग कण्ठस्थान में से व्यक्त होते है। (2) उरसि विसर्जनीयो वा (2-1-3) अथवा विसर्ग उरः प्रदेश में स्थित है। (3) रेफो मूले वा (2-1-8) सूत्र से रेफ को दन्तमूल कला गया है। और अन्त में किट्किडाकारो हन्वाम्। (2-1-10) सूत्र से, सामवेद के ध्वनिविशेष में जिस का स्थान है ऐसा 'किट्किट्' ध्वनि हनु स्थान में से उत्पन्न होता है' ऐसा कहा गया है।

उसके बाद, व्यञ्जनादि वर्णों के उच्चारण में कितनी मात्राएँ अर्थात् कितना कालखण्ड व्यतीत होता है उसका निरूपण है। जैसे कि – मात्रार्धमात्रा वा। (2-3-8) व्यञ्जन के उच्चारण में एक पूर्ण मात्रा या अर्धमात्रा का काल

14. संभव है कि औदव्रजि या शाकटायन ने लौकिक संस्कृत भाषा का व्याकरण भी लिखा हो, जिस में इस का विनियोग किया गया हो।

15. तुलनीयः- सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः। सर्ववेदपुण्य - फलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते ॥ (प्रत्याहाराह्निकं - महाभाष्यम्)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

होना चाहिए। सन्ध्यक्षर (ए कार और ओकार) के लिए तीन कलायें व्यतीत होती है। इसी तरह से द्रुतवृत्ति के उच्चारण में एक वर्ण के लिए तीन कलायें, मध्यमावृत्ति में चार कलायें और विलम्बित वृत्ति में पाँच कलायें व्यतीत होती है। 'विराम' की स्थिति में एकमात्रा का व्यवधान रखना चाहिए।

यहाँ पर ह्रस्व, दीर्घ, गुरु, संयोग, वृद्ध इत्यादि संज्ञाओ का भी विधान किया गया है। जैसे कि द्विमात्रिक का नाम 'दीर्घ' है (द्वे दीर्घम्। 2-5-3)॥ त्रिमात्रिक (एकार-ओकार) का नाम 'वृद्ध' है (तिस्रो वृद्धम्। 2-5-4) संयुक्त व्यञ्जन की सण् (=संयोग) संज्ञा है (सयुक् सण्। 2-3-7)। तथा संयोग पर में रहे तो पूर्व में स्थित ह्रस्व वर्ण 'गुरु' संज्ञक होता है (गुरु सणि। 3-5-9) और दीर्घ की भी गुरु संज्ञा होती है (घम्। 2-5-10)। तथा उदात्त स्वर की 'उत्' संज्ञा बताई गई है। (उदात्तमुत्। 2-6-1) इत्यादि॥

(3) तृतीय प्रपाठक में कुल आठ दशक है अर्थात् 80 सूत्र आये हुए हैं। यहाँ स्वरविधि एवं सन्धि विषयक कतिपय निरीक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। जैसे कि - 'तस्मादुच्चश्रुतीनि। (3-1-1) स्वरित स्वर के पश्चात् आये हुए (प्रचय) अक्षर की उदात्तश्रुति होती है। उदाहरण - आजाता सुक्रतो पृण। में अन्तिम चार अक्षरों का उच्चारण एवं श्रवण उदात्त रूप से होता है। ''पदम् एकोच्चम्। (3-1-2) सूत्र कहता है कि - साममन्त्र में आये हुए प्रत्येक पद में एक उदात्त स्वरवाला अक्षर होता है।

इस के बाद संनिकर्ष की संहिता संज्ञा होती है (3-1-7) यह बताकर कहाँ कहाँ संहिता प्राप्त होती है, या उसका अभाव रहता है उसका वर्णन किया गया है। (1) ओजि (3-3-6) ओज शब्द पर में रहे तो संहिता नहीं होती है। उदा. त्वं न इन्द्रा भर ओजो.। (2) शकन्धुकादीनाम् (3-3-7) सूत्र से कहा है कि - शकन्धुकादि गण में आये हुए शब्दों में भी संहिता नहीं होती है। उदा. शक अन्धुक ईश.। अब संनिकष अर्थात् संहिता कहाँ होती है उसका निरूपण करते हुए कहा है कि - (3) सन्ध्यं द्विवर्णम्। (3-4-5) सन्ध्यक्षर (=ए एवं ओ) 'द्विवर्ण' की (ए एवं औ) स्थिति को प्राप्त करते है। उदा. प्र + एतु = प्रैतु। कृणुत + एकस्मिन् कृणुतैकस्मिन्। इत्यादि। (4) उपसर्गाद् ऊहेष्यौ प्रेष्यार्थे। (3-4-7) उपसर्ग के पश्चात् 'ऊह' या 'ईर्ष्य' आया हो तो वहाँ भी द्विवर्ण (वृद्धि) सन्धि होती है, प्रेष्य ऐसे अर्थ में। उदा. प्र + ऊह

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

= प्रौहः । प्र + ईर्ष्य = प्रैष्यः ॥

(4) चतुर्थ प्रपाठक में सात दशक आये हुए हैं और यहाँ पर भी संहिताजन्य ध्वनिविकारादि का वर्णन मिलता है । जैसे कि (1) आविरादीनां करोतौ । (4-1-1) आविर् - इत्यादि अव्ययों के रेफजनित विसर्ग सकार में परिणत होता है, यदि कृ धातु का पर में प्रयोग हो तो । उदा. आविर् +कृतम् = आविः + कृतम् आविष्कृतम् । तिरस्कृतम् । नमस्कृतम् । इत्यादि । (2) पृषोदरादीनाम् । (4-3-6) पृषोदरादि गण के शब्दों में से द्कार का लोप होता है । उदा. पृषद् + उदरम् पृषोदरम् । (3) श्लोः । (4-4-9) शकार और लकार पर में रहने पर परस्थान (=परसवर्ण) विधि होता है । उदा. तत् +श्लोकः तच्छ्लोकः (4) यहाँ पर आगम-विधान के लिए 'व्यवधान' शब्द का प्रयोग मिलता है । जैसे कि - टान्तमेके । (4-5-4) ट् कार पूर्व में रहे और पर में सकारादि शब्द रहे तो वहाँ पर त् कार का व्यवधान उपस्थित होता है । उदा. षट् + सा भोजयति षट्त्सा भोजयति ॥

(5) पंचम प्रपाठक में भी सात 'दशक' आये हुए है, और छह अधिक सूत्र मिलकर 76 सूत्र प्राप्त होते हैं । इस प्रपाठक में भी संहिता के प्रसंगे में होनेवाली दीर्घविधि और मूर्धन्यविधि का वर्णन है । जैसे कि - (1) वृषस्य कपि - मोदिनी - दर्भखेषु । (5-1-2) वृष शब्द के अंतिम अकार का दीर्घ होता है, यदि कपि- मोदिनी - दर्भ या ख शब्द परमें रहे तो । उदा. वृष + कपि वृषाकपि । (2) सर्वनाम्नो दृशि । (5-1-7) सर्वनाम वाचक शब्द के अन्तिम स्वर का दीर्घ होता है, यदि दृशी प्रत्यय पर में रहे तो । उदा. कि + दृशी = कीदृशी । य + दृशी यादृशी । अस्म + दृशी = अस्मादृशी - इत्यादि । (3) ह्रस्वात् पुरुषः । (5-5-8) ह्रस्व स्वर के पश्चात् आये हुए 'पुरुष' शब्द का आदि स्वर दीर्घ होता है । उदा. ततो ज्यायाँश्च पूरूषः । (आ.सं. 36)

इसी तरह से मूर्धन्यीकरण की विधि बताते हुए कहा है कि (4) दे नो मूर्धन्यम् । (5-6-7) 'दे' अर्थात् पदे = एकपद में रेफ की उत्तर में आनेवाले 'न' कार को मूर्धन्यादेश होता है । जैसे कि शरणे, चरणम्, गिरीणाम् इत्यादि । तथा (5) ऋषाभ्याम् (5-6-8) ऋ स्वर एवं षकार के पश्चात् आनेवाले न कार का भी मूर्धन्य होता है । उदा. होतृणाम् । मातृणाम् ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

मानुषाणाम्। अक्षेण॥ ऐसे मूर्धन्यीकरण के अनेक सन्दर्भो का परिगणन इस प्रपाठक के अन्त तक चलता है ।

अन्त में पुष्पिका में लिखा है कि – ''इति शाटकायनोक्तम् ऋक्तन्त्रव्याकरणं सम्पूर्णम् ॥'' अर्थात् इस प्रकार शाक्टायन द्वारा प्रणीत ऋक्तन्त्र व्याकरण सम्पूर्ण हुआ । इस के पाठान्तर में बताया गया है कि कतिपय पाण्डुलिपियों में – ''इति छन्दोगव्याकरणं समासम्'' । और ओरिएन्टल इन्स्टिट्यूट, बडौदा की MS. No. 12917 में लिखा है कि ससमो दशकः । चतुर्थः प्रपाठकः समासः । छन्दोगशाखायाम् ऋक्तन्त्राभिधानव्याकरणवृत्तिः । समासा । ऋक्तन्त्र व्याकरणं शाकटायनादिभिः कृतम् । सूत्राणां संख्या 280 अशीत्यधिकशतद्वयं सूत्राणि ॥

इस तरह पाण्डुलिपियों की परम्परा में ''ऋक्तन्त्र व्याकरण' के कर्ता का नाम 'शाकटायन'' मिलता है, और पाण्डुलिपियाँ में ऋक्तन्त्र को 'प्रातिशाख्य' संज्ञा नहीं दी है, परन्तु उसको 'व्याकरण' कहा गया है – वह भी ध्यानास्पद है ।

५

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि ''ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य'' विशेष रूप से व्याकरण है और वह शाकटायनप्रणीत होने से पाणिन्युत्तरकालिक रचना नहीं है । अतः 'ऋक्तन्त्र' की पाणिनीय-व्याकरण के साथ तुलना करनी आवश्यक है । हम ऐसी तुलना (क) तान्त्रिक व्यवस्थाओं की दृष्टि से एवं (ख) ध्वनि विज्ञान के निरीक्षणों की दृष्टि से करेंगे :

(क)

(1) पाणिनीय व्याकरण में जिस तरह से लाघवपूर्ण एकाक्षरी संज्ञाओ का प्रयोग हुआ है । (उदा. यचि भम् । 1-418 दाधाघ्वदाप् । 1-1-20, अचोऽन्त्यादि टि । 1-1-64) उसी तरह से ऋक्तन्त्र में भी एकाक्षरी संज्ञाएँ दिखाई पड़ती है । उदा. (1) दीर्घ के लिए 'घ' संज्ञा (3-6-2,3) (2) गति के लिए 'ति' संज्ञा (3-5-10), (3) स्वर के लिए 'र' संज्ञा (3-4-3, 4) 'समास' के लिए 'मास' संज्ञा (1-1-1) और 5) संयोग के लिए 'सण्' संज्ञा (2-3-7) का प्रयोग हुआ है । ऋक्तन्त्र की यह लाघवसाधक संज्ञा बनाने

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

के लिए पूर्ववर्ती वर्णों का अप्रयोग किया जाता है। जैसे कि – 'समास' शब्द में 'मास' और 'दीर्घ' शब्द में से 'घ' की संज्ञा बनाई है। कदाचित् उत्तरवर्ती अंश का लोप भी किया है। उदाहरण – 'उदात्त' के लिए 'उत्' संज्ञा रखी है।

(2) पाणिनीय व्याकरण की तरह यहाँ पर भी अनुवृत्ति की युक्ति का आश्रयण किया गया है। जैसे कि – 'उदात्तमुत्। (2-6-1) और 'वान्त्सन्धिः (2-6-2) यह दो सूत्र है। यहाँ पूर्वसूत्र से 'उदात्त' पद की और 'उत्' पद की अनुवृत्ति दूसरे सूत्र में आती है। फलतः दूसरे सूत्र का अर्थ होता है – 'उदात्तवान् सन्धिरुत्संज्ञो भवति ॥'' यद्यपि यह भी कहना चाहिए की पाणिनीय व्याकरण में ऐसी अनुवृत्ति का बहुशः प्रवर्तन किया गया है परन्तु ऋक्तन्त्र में इस प्रयुक्ति का आश्रयण सार्वत्रिक नहीं किया है।

(3) पाणिनि ने लाघवसिद्ध्यर्थ जो गणपाठ का भी प्रणयन किया है उसी का दर्शन ऋक्तन्त्र में भी होता है। उदा. कौतस्कुतादीनाम्। (3-7-8) आविरादीनां करोतौ। (4-1-1) इत्यादि। कुत्रचित् ऐसा भी प्रतीत होता है कि पाणिनि ने इन गणों में से कतिपय का स्वीकार भी कर लिया है। जैसे कि पृषोदरादीनाम् (4-3-6), इस ऋक्तन्त्र के सूत्र में उल्लिखित पृषोदरादि-गण पाणिनि ने पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्। 6-3-109 सूत्र में लिया है।

(4) कुत्रचित् अर्थभेद से रूपभेद भी होता है यह बात ऋक्तन्त्रकार के ध्यान में है। अतः पार पर्वते। (4-5-10) सूत्र कहता है कि पार इति पूर्वरूपं सकारो व्यवधीयते पर्वते। पारस्करः पर्वतः। पारकरोऽन्यः। अर्थात् 'पार + कर' इस स्थिति में सकार का व्यवधान होता है, यदि 'पर्वत' अर्थ बताना हो तो – पारस्करः। परन्तु पर्वत अर्थ अभीष्ट न हो तो सकार का व्यवधान नहीं होता है। पाणिनि भी इस तरह से अर्थभेद से रूपभेद दर्शानेवाले सूत्र प्रस्तुत करते है। उदा. नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य।

(5) 'ऋक्तन्त्र' में कुत्रचित् विचित्र शैली भी दिखाई पडती है। जैसे कि सूत्र में पद सप्तम्यन्त होता है, वह निमित्त वाचक होता है। परन्तु ऐसे सप्तम्यन्त निमित्तों को वह 'प्रत्यय' के नाम से घोषित करता है। उदा. वस्तरादीनाम् ऋणि। 3-5-6 (वृत्ति) वत्सतरादीनाम् ऋणि प्रत्यये दीर्घमापद्यते। प्र+ऋणम्→प्रार्णम्। वत्सतर + ऋणम् = वत्सरार्णम्। इत्यादि यहाँ प

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

शब्द स्पष्ट रूप से कोई प्रत्यय नहीं है, फिर भी ऋक्तन्त्रकार उसे 'प्रत्यय' ही कहते है। और ऐसी पद्धति सम्पूर्ण ऋक्तन्त्र में दिखाई पडती है।

(ख)

ऋक्तन्त्र में ध्वनिशास्त्रीय या सन्धिविषयक ऐसे अनेक सूत्र हैं जिसका सीधा प्रभाव पाणिनीय सूत्र पर पडा है। (यद्यपि डॉ. सूर्यकान्त के मत से यह भी संभव है कि पाणिन्युत्तरकाल में कोई शाकटायनानुयायी ने अष्टाध्यायी से सूत्र लेकर ऋक्तन्त्र में प्रक्षेप कर दिया हो) उदा. (1) उद् स्थास्तम्भोः (ऋ. त. 4-3-7)

(वृत्ति) उत् पूर्वयोः स्थास्तम्भोरादि लुसये। उत्थाता।

*उद्० स्थास्तम्भो पूर्वस्य। (पा.सू. 8-4-61)

(वृत्ति) उद्० परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात्। उत्थानम्।

(2) सन्ध्यम् अयवायावम् (ऋ.त. 3-6-1)

(वृत्ति) सन्ध्यक्षरम् अयम् अवम् आयम् आवम् आपद्यते। अग्ने आ याहि अगन्या याहि

* एचोऽयवायावः। (पा.सू. 6-1-78)

(वृत्ति) एचः क्रमाद् अय् अव् आय् आव् एते स्युरचि। हरये।

उपसंहार : पाणिनि से पूर्वकाल में शाकटायन नामक वैयाकरण का अत्यन्त महनीय स्थान रहा है, और यास्क जैसे नैरुक्त ने भी उनको अपना गुरु माना है। परन्तु उस शाकटायन का कोई व्युत्पत्ति विषयक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं होता है। तथापि पाणिनि के अनवद्य एवं विश्वतोमुखि व्याकरण पर वैयाकरण शाकटायन का जो प्रभाव रहा होगा उसका स्पष्ट दर्शन करने के लिए यह ऋक्तन्त्र का अभ्यास उपयुक्त सिद्ध होगा। तथा दूसरी बात यह भी है कि व्याकरणविद्या का उद्भव और विकास करने में छन्दोग सामविद् - वैयाकरण का स्थान सर्व प्रथम हो सकता है।

—x—

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

14

भारत में कोशविज्ञान की कब भोर भई ?

भूमिका – यह बात सर्वविदित एवं सर्वस्वीकृत है कि भारत में कोशविज्ञान का आरम्भ 'निघण्टु' नामक वैदिक शब्दकोश से हुआ है। यास्क ने ई.पूर्व 600 में, इस शब्दकोश के शब्दों का निर्वचन देने के लिए जो भाष्य लिखा है, उसका नाम 'निरुक्तम्' है। इस शब्दकोश का स्वरूप देखा जाय तो उसमें 1. पर्यायवाची शब्दों का बना प्रथम काण्ड है, 2. अनेकार्थक शब्दों का दूसरा काण्ड है और 3. तीसरे काण्ड में देवता–सम्बन्धी शब्दों का संग्रह है। इस 'निघण्टु' शब्दकोश को आदर्श बनाके और इससे ही प्रेरणा प्राप्त करके कालान्तर में 'अमरकोश' की रचना हुई।

परन्तु, इस प्रचलित मत में थोड़ी नूक्ताचीनी करनी आवश्यक दिखाई दे रही है। यह जो 'निघण्टु' नामक वैदिकशब्दकोश है, उसमें उपर्युक्त त्रिविध काण्ड की जो वर्गीकृत व्यवस्था है वह तो कोशविज्ञान की प्रायः पूर्ण विकसित स्थिति की परिचायक है। लेकिन भारत में कोशविज्ञान की भोर कब भई होगी ? यह प्रश्न तो पुनरीक्षणीय है ही।

(२)

पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' व्याकरण में यद्यपि 'वाक्य' की निष्पति कैसे होती है – इसका निरूपण किया गया है। जिसमें वाक्य की दो प्रमुख ईकाइ मानी गई है – 1. सुबन्तपद (नामपद) और 2. तिङन्तपद (क्रियापद)। परन्तु पाणिनि ने अपनें सूत्रों को स्वल्पाक्षर बनाने के लिए जो धातुपाठ, गणपाठ

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri.

बनाये है, वह एक दृष्टि से विभिन्न प्रकार के शब्द-यूथ बनाने का ही कार्य था। इन शब्द जूटों में, यद्यपि गणपाठ में 'अर्थप्रदर्शन' की बात नहीं थी। फिर भी तरह तरह से शब्दयूथ बनाना ही कोशविज्ञान की शूरुआत कही जा सकती है। गणपाठ के अलावा पाणिनि-निर्दिष्ट 'निपातनसूत्रों' में उल्लिखित शब्दों भी एक तरह का शब्दजूट बनाना ही था।

(३)

पाणिनि के पूर्वकाल में भी भाषा-विषयक विचारणा करनेवाले अनेक वैयाकरणादि हुये थे। जिनमें से ऋग्वेद् के पदपाठकार शाकल्य का नाम समयावधि की दृष्टि से अग्रगण्य है। शाकल्य ने वेदमन्त्रों की संहिता को तोड़कर पदपाठ बनाया। इस पदपाठ का एक केन्द्रवर्ती नियम यह था कि सबसे छोटा जो भी अर्थवाहक शब्दांश हो उसको विश्लेषित करके दिखाया जाय। प्राचीन भारत में, वाक्य में जो भी सबसे छोटा अर्थवाहक अंश होता है, वह 'पद' कहलाता है (अर्थः पदम् ।) - ऐसा माननेवाला भी एक पक्ष था। जो ऋग्वेद का पदपाठ बनाने की आधारशिला थी। कोशविज्ञान में सब से पहले जो प्रविष्टि (Word-entry) बनाने का कार्य होता है, उस में भी सबसे छोटी अर्थवाहक ध्वनिश्रेणी को ही स्थान दिया जाता है, उसका आरंभ ऋग्वेद के पदपाठ में देखा जा सकता है॥

(४)

दूसरी ओर वैयाकरणों में अतीव ध्यानास्पद एवं चर्चास्पद नाम था शाकटायन का। यास्क ने कहा है कि - "नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनः"। (निरुक्तम् अ.1) इन का मत था कि भाषा में जो भी (संज्ञावाचक) नाम का प्रयोग होता है, वे सभी कोई एक (या एकाधिक) क्रियावाचक धातु से निष्पन्न हुए है। यथा - अश्नोति अध्वानम् इति अश्वः। "जो मार्ग को (तीव्र गति से) नाप लेता है, वह 'अश्व' कहलाता है। अतः शाकटायन भाषा में प्रयुक्त होनेवाले नामों के प्रसिद्ध अर्थात् परम्परागत अर्थों की संगति किसी न किसी धातु से (धातु के अर्थ एवं ध्वनिसादृश्य से) बिठाने का कार्य करनेवाले निर्वचनकार थे। इस शाकटायन को अपने गुरुपद पर स्थापित करके यास्क ने 'निघण्टु' में संगृहीत शब्दों पर व्याख्या लिखी है। शाकटायन एवं यास्क की यह प्रवृत्ति कोशविज्ञान से सुसम्बद्ध ऐसी अर्थविज्ञान की विचारधारा को

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

पुष्पितपल्लवित करने की प्रवृत्ति थी । दूसरे शब्दों में कहे तो यह प्रवृति कोशविज्ञान के साथ आनुषंगिक रूप से सम्बद्ध थी ।

(५)

परन्तु स्पष्टरूप से कोशविज्ञान का ही ईषत्-ईषत् चमत्कार जहाँ दिखाई दे रहा है - वह है "उणादि (पञ्चपादी)" सूत्रपाठ । पाणिनि ने अष्टाध्यायी में उणादयो बहुलम् । 3-3-1 सूत्र से उणादिसूत्रपाठ की ओर केवल अंगुलिनिर्देश ही किया है । उन्होंने स्वयं कोई उणादिसूत्र बनाये थे या नहीं - यह आज अज्ञेय है । परन्तु वे जब पूर्वोक्त 3-3-1 सूत्र को दे रहे है तो यह बात निश्चित है कि उणादिसूत्रों का अस्तित्व पाणिनि से भी पूर्व में था । यहाँ पर, अर्थात् उणादि (पञ्चपादी) सूत्रपाठ में प्राधान्येन ऐसे सूत्र प्रस्तुत हुए है कि अमुक अमुक शब्दों का अन्तिम प्रत्ययांश एक समान है । तद्यथा -

(1) कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशू-भ्य उण् । (1-1) इस सूत्र से 'कृ', 'वा' इत्यादि धातुओं से 'उ' (ण्) प्रत्यय जूडने से कारु, वायु, पायु, जायु, मायु, स्वादु, साधु, आशु जैसे 'उकारान्त शब्द' सिद्ध हुए है ।

(2) सि-तनि-गमि-मसि-सच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन् । (1-69) सूत्र से कहा गया है कि - सि, तनि इत्यादि धातुओं से 'तु' (न्) प्रत्यय लगने से सेतु-तन्तु-गन्तु-मस्तु-सक्तु-ओतु-धातु इत्यादि 'तु' प्रत्ययान्त शब्द बनते / बने है ॥

(3) कृ-गृ-शृ-वृञ्चतिभ्यः ष्वरच् । (2-279) सूत्र से कृ-गृ इत्यादि धातुओं से ष्वरच् प्रत्यय लगता है । जिससे -कर्बरः, गर्वर, शर्वरी, बर्बरः शब्द बने है ॥

(4) छित्वर-छत्वर-धीवर-पीवर-मीवर-चीवर-तीवर-नीवर-गह्वर-कट्वर-संयद्वराः । (3-281) सूत्र से छित्वर, धीवर इत्यादि शब्द भी 'ष्वरच् (वर) प्रत्यय लगने से सिद्ध होते है (हुए है) ॥

(5) खष्प-शिल्प-शष्प-बाष्प-रूप-पर्प-तल्पाः । (3-308) सूत्र से 'प' प्रत्यय का विधान किया गया है, जिसके फलस्वरूप शिल्प-बाष्प इत्यादि जैसे 'प' प्रत्ययान्त शब्दों की संघटना हुई है ।

(6) कृ॰शृ-पृ-कटि-पटि-शौटिभ्य ईरन् । (4-470) सूत्र से 'ईरन्'

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

प्रत्यय का विधान होता है और करीर, शरीर, परीर, कटीर, पटीर, शौटीर जैसे शब्द तैयार होते है। ये सभी शब्द 'ईर' प्रत्ययान्त है - ऐसा दिखाई दे रहा है।

(7) इसी तरह से - प्रथेरमच्। (5-746) सूत्र से 'प्रथ्' धातु से 'अमच्' प्रत्यय लगता है, और 'प्रथम' शब्द बनता है। चरेश्च। (5-747) सूत्र से भी 'चर्' धातु से 'अमच्' प्रत्य लगता है, और 'चरम' शब्द सिद्ध होता है। तथा मङ्गेरलच्। (5-747) सूत्र से 'मङ्ग' धातु से 'अलच्' प्रत्यय जूडकर 'मङ्गल' शब्द की सिद्धि हुई है - ऐसा दिखाई दे रहा है।

इन उदाहरण रूप उणादिसूत्रों को देख कर एक बात स्पष्ट होती है कि अज्ञात उणादि-सूत्रकार ने यहाँ पर न धात्वर्थ की और ध्यान दिया है, और न तो प्रत्ययार्थ क्या है - यह बताया है। उसका मतबल तो यही होगा की उनकी दृष्टि शब्दों की प्रत्ययान्त-स्थिति कहाँ कहाँ पर एक समान है यह देख कर ऐसे समानाकृतिवाले शब्दों का एकत्रीकरण किया जाय॥ यही तो है 'इदं प्रथमतया' कोशकार्य का आरम्भ।

पाणिनि ने भाषा की बृहत्तम ईकाइ को (वाक्य को) लेकर उसकी संयोजना बताई थी। और उसके पूर्वकाल में पदपाठकार शाकल्य थे, जिन्हों ने वेदमन्त्रों को लेकर सब से छोटे सार्थक शब्दांश का विश्लेषण प्रस्तुत किया। इन दोनों के बीच (शाकल्य एवं पाणिनि के बीच) उणादिसूत्रों के अज्ञात रचयिता ने, शब्द के अन्तिम प्रत्ययांश को अपनी चयन प्रक्रिया का नियामक तत्त्व बनाकर, विविध शब्दों के यूथ बनाने का सब से पहेले आरम्भ किया था।

कोश-प्रणयन में अर्थानुसारी शब्दचयन या पृथिवीलोक-स्वर्गलोकादि सम्बन्धी शब्दों का चयन करना-यह सब बहुत परवर्तीकाल की विकसित स्थिति है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो भारत में 'निघण्टु' जैसे ''एकार्थक अनेक शब्दों'' एवं ''अनेकार्थक एकएक शब्दों'' का संग्रह (कोश) बनाने की प्रवृत्ति से भी पूर्वकाल में उणादि सूत्रकार ने ही शब्दों के बाह्यशिल्प को अर्थात् शब्दों की अन्तिम ध्वनि सामान्य रूप से / समान रूप से कहाँ कहाँ दिखाई दे रही है ? - इसकी गवेषणा की थी। यही होगा कोशविज्ञान का उषःकाल॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अर्थ से निरपेक्ष रहते हुए, केवल शब्दों के अन्तिम भाग को ही देखकर शब्दों का यूथ बनाने का कार्य उणादिसूत्रों में शूरु हुआ था – यह देखकर कहना पडेगा कि आज के कोशविज्ञान के बीजवपन का कार्य सब से पहले उणादि सूत्रकार ने ही किया था ॥

कोशकार्य के कतिपय उद्देश्य 1. अर्थनिर्धारण करना, 2. शब्द की वर्तनी स्थिर करना तथा 3. शब्दों के लिङ्ग का नियमन करना – ये सभी बातें बाद में आती है, लेकिन शब्दों में कोई एक स्वरूप (बाह्यशिल्प) को नियामक तत्त्व में रूप में लेकर, समानरूप वाले शब्दों का एकत्रीकरण करना यही कोशकार का प्रथमतम कर्तव्य होता है । अतः हम कह सकते हैं कि इन उणादिसूत्रों की रचना के साथ ही कोशविज्ञान की भोर भई थी ॥

—x—

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

15

वेदवाक्यों में पाद, वृत्त, स्वर एवं पदक्रम का संतुलित सौन्दर्य*

भूमिका : ईश्वर के निःश्वसितरूप माने गये वेद को 'छन्दस्' भी कहते है। क्योंकि पूरा ऋग्वेद पद्यात्मक है; अर्थात् सारे मन्त्रों की रचना छन्दोबद्ध की गई है। अतः ऋग्वेद के वाक्यों की आन्तरिकी संरचना केवल गेयता-लक्षी होगी, ऐसा अनुमान प्रथम सोपान पर किया जा सकता है। परन्तु वैदिक छन्दों के नियामक तत्त्व कौन कौन है - इसकी समीक्षा करने से मालुम होता है कि यहाँ पर विविध छन्दों के जो नियताक्षर 'पाद' (चरण) है, उसमें 'वृत्त' का नियंत्रण प्रत्येक अक्षर में साद्यन्त तो है नहीं। इस स्थिति में यह निश्चित होता है कि इन मन्त्रों की आन्तरिकी संरचना में गेयता केन्द्र में नहीं है। और इसीलिए यहाँ पर ऋचाओं के 'पाद', पादान्तर्गत वाक्यों का गुम्फन; और वाक्यान्तर्गत पदक्रम का स्वारस्य गवेषणीय बनता है।

सम्भव है कि कोई यहाँ कहेगा कि ऋग्वेद के मन्त्रों में जो गेयता है, वह छन्दों के 'वृत्त' पर आधारित नहीं है। परंतु मन्त्रों के प्रति अक्षर में जो उदात्तादि स्वरों का सन्निवेश है, उन उदात्तादि स्वरों पर मन्त्रों की गेयता अवलम्बित है। तो ऐसा कहने पर भी प्रश्न तो उठेगा हि कि इस गेयता को सिद्ध करने के लिए मन्त्रों की आन्तरिकी संरचना किन किन नियामक तत्त्वों

---

* ज्ञानप्रवाह (श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिवेदमीमांसाऽनुसन्धानकेन्द्र), वाराणसी एवं महर्षि सांदीपनि राष्ट्रिय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जयिनी के संयुक्त तत्त्वाधान में आयोजित वेदविषयक राष्ट्रिय संगोष्ठी में, (6-8 March 2008) प्रस्तुत शोध आलेख।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

पर निर्भर है ? मुझे जल्दी से यह निवेदन कर देना चाहिए कि – वेदमन्त्रों को परम्परागत श्रद्धा से "अपौरुषेय रचना" कहकर, उपर्युक्त प्रश्न पर आँखें मूँद लेना मुझे मंजूरी नहीं है ॥ अतः प्रस्तुत आलेख में वेदवाक्यों की आन्तरिकी संरचना पर सर्वाङ्गीण रूप से कुछ सोचने का प्रयास किया जा रहा है। आशा है कि इस विचारणा के माध्यम से वेदमन्त्रों के पाद, वृत्त, स्वर एवं पदक्रम के संतुलित सौन्दर्य पर कुछ प्रकाश डाला जा सकेगा ॥

१

ऋग्वेद के मन्त्रों में वाक्यपरिसमाप्ति :

प्राथमिक दृष्टि से देखा जाए तो ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना छन्दोबद्ध की गई है। इन मन्त्रों की छन्दोव•ना होने के कारण, एक ईकाई के रूप में उनके पादों (चरणों) की ओर जब देखा जाता है, तब 'ऋग्वेद-प्रातिशाख्य' कहता है कि –

पादौ गायत्र-वैराजा-वष्टाक्षर-दशाक्षरौ ।
एकादशिद्वादशिनौ विद्यात् त्रैष्टुभ-जागतौ ॥

(ऋ. प्रा. 17-37, 38)

ऋग्वेद के मन्त्रों में 8 अक्षरवाला गायत्र-पाद, 10 अक्षरवाला वैराज-पाद, 11 अक्षरवाला त्रैष्टुभ-पाद एवं 12 अक्षरवाला जागत-पाद दिखाई पड़ता है। कुछ विद्वान् लोग 10 अक्षरवाले वैराजपाद को 'मौलिक पाद' नहीं मानते हैं; परन्तु त्रैष्टुभपाद का विकार ही मानते हैं। उस तरह ऋचाओं की रचना आठ, एकादश या द्वादश अक्षरवाले त्रिविध पादों मे हुई है ऐसा देखा जाता है ॥

वेदकालिक ऋषियों ने इन पद्यात्मक मन्त्रों की रचना करते समय एक विचार, या विचारांश की अभिव्यक्ति करने के लिए प्रायः एक 'पाद' को एक ईकाई के रूप में स्वीकारा है। इस बात का समर्थन ऐसे भी होता है कि ऋग्वेदप्रातिशाख्य में पादज्ञान के जो तीन हेतु बताये हैं (प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः । ऋ. प्रा. 17-25) उसमें 'अर्थ' शब्द के द्वारा 'अन्वय' ऐसा शब्दार्थ अभिप्रेत है; और 'अन्वय' शब्द से एक पूरा विचार; या विचारांश अभीष्ट होता है। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी एक स्थान पर ऐसा ही निरीक्षण प्रस्तुत किया है :- क्वचित् पुनः प्रति आख्यातम् अर्थम् अपेक्ष्य,

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

एकस्मिन् अपि मन्त्रे वाक्यभेदो भवत्येव । तद्यथा – ऋचां त्वः पोषमास्ते० । ऋ०सं० 8-2-24-6) इत्यत्र प्रतिपादं वाक्यसमाप्तिः ॥ (निरुक्तम् 7-6 इत्यत्र दुर्गः) इस चर्चा से हम ऐसा निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि – वेद यदि मनुष्य प्रजा के आरम्भ काल की कविता हो तो उसमें ''पादान्तं वाक्यम्' वाली सरल एवं स्वाभाविक वाक्यरचना ही होनी चाहिए । उदाहरण के रूप में वासिष्ठ मण्डल के पद्यात्मक मन्त्रों की वाक्यपरिसमाप्ति कहाँ कहाँ होती है ? – यह देखा दाय तो निम्नोक्त स्थिति हमारे सामने आती है :-

(1) मन्त्र के चारों पाद एक स्वतन्त्र ईकाई के रूप में प्रतीत होते हो – ऐसी वाक्यरचना वाले मन्त्र उदा० 7-8-5, 7-11-1, 7-18-17,18, 7-21-5, 7-29-1, 7-48-4, 7-75-1 इत्यादि ।

(2) यद् (यः) सर्वनाम से पूर्वाद्र्ध के दो पादों से बना (उद्देश्यांशवाला) एक वाक्य और तद् (सः) सर्वनाम से उत्तराद्र्ध के दो पादों से बना (प्रतिनिर्देश्यांशवाला) दूसरा एक वाक्य जिसमें हो ऐसा मन्त्र (अर्थात् चार पाद के मन्त्र में दो वाक्य हो – ऐसे मन्त्र; उदा० 7-6-4, 7-6-5, 7-28-2, 7-47-1 इत्यादि ॥ (कतिपय मन्त्रों में, भाष्यकारों की दृष्टि में, 'यद्' शब्द 'यदा' अर्थ में; तथा 'तद्' शब्द 'तदा' अर्थ में प्रयुक्त है; अतः वहाँ संयुक्तवाक्य की रचना है ऐसा कहा जायेगा । उदा० 7-10-3,5 इत्यादि ॥)

(3) पूर्वार्द्ध के दो पाद का एक वाक्य हो, और उत्तरार्द्ध के दोनों पाद में दो विभिन्न वाक्य हो – ऐसी रचना वाले मन्त्र ।

अथवा

उत्तरार्द्ध के दो पादों का एक वाक्य हो, और पूर्वार्द्ध के दोनों पाद में दो विभिन्न वाक्य अलग अलग हो – ऐसी रचना वाले मन्त्र । उदा० 7-18-13,16, 7-25-3, 7-46-2, 7-48-2, 7-51-2, 7-54-2, 7-83-7, 7-104-2 इत्यादि ॥

(4) पहले तीन पादों का एक वाक्य (अथवा पूर्वार्द्ध के पादों का एक वाक्य, और तीसरे पाद में एक वाक्य), तथा चतुर्थ पाद में ७

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

वें मण्डल की ध्रुवपंक्तिवाला वाक्य जिसमें हो ऐसे मन्त्र भी दिखाई पड़ते है। उदा० 7-20-10, 7-23-6, 7-33-10 इत्यादि ॥

(5) दूसरे और तीसरे पाद का एक वाक्य एवं प्रथम पाद का स्वतन्त्र वाक्य, तथा चतुर्थ पाद का स्वतन्त्र वाक्य - ऐसी भी मन्त्र रचना होती है।

(6) बहुत अल्पसंख्या में पाँच, या उससे भी अधिक वाक्यवाला मन्त्र होता है; (उदा० 7-1-19) अथवा तो

(7) कुत्रचित् अत्यंत जटिल वाक्यरचना भी होती; (उदा० 7-6-1, 7-18-24, 7-25-5)। अन्तिम दोनों प्रकार के मन्त्रों में प्रति-पाद एक विचार या विचारांश न होने से "पादान्तं वाक्यम्" वाली वाक्यरचना नहीं मिलती है। परन्तु ऐसे स्थल बहुत कम है ॥

२

ऋग्वेद के मन्त्रों में 'प्रतिपादं वाक्यपरिसमाप्तिः' वाली वाक्यरचना प्रायः मिलती है; (और वेङ्कट-माधव जैसे भाष्यकार इसी दृष्टिकोण से वेदमन्त्रों को समझाते भी हैं।) परन्तु यहाँ पर यदि ऐसा सोचा जाय कि ऋचाओं के प्रत्येक पाद में वाक्य के पदों का क्रम किस दृष्टिकोण से निश्चित किया गया होगा ? तो प्रथम उत्तर यह हो सकता है कि -

ऋचायें छन्दोबद्ध होने से वेदवाक्यों के पदक्रम का तर्क अविचारणीय ही है।* परन्तु ऋग्वेदप्रातिशाख्य के अनुसार विभिन्न छन्दोवाली ऋचाओं में, 'वृत्त' का नियमन तो प्रत्येक पाद में केवल एक अक्षर तक ही सीमित है। तद्यथा -

---

* इसीलिए मेक्डॉनल ने भी अपने Vedic Grammar for Students, A.A. Macdonell (Pub. Motilal Banarsidass, Delhi, 1993, P-283 पुस्तक में (पृ. - 283-286) पदक्रम के अभ्यास के लिए ब्राह्मणग्रन्थों के गद्यवाक्यों को ही उदाहरण के लिए प्रस्तुत किये हैं।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

वर्षिष्ठाऽणिष्ठयोरेषां लघूपोत्तमम् अक्षरम् ।
गुर्वेवेतरयोर्ऋक्षु तद् 'वृत्तं' छन्दसां प्राहुः ॥ (17-39)

सबसे बडे (जागतपाद), और सबसे छोटे (गायत्रपाद) में उपोत्तम अक्षर 'लघु' होता है । तथा अन्यत्र (अर्थात् वैराजपाद एवं त्रैष्टुभपाद में) उपोत्तम अर्थात् उपान्त्य अक्षर 'गुरु' होता है ॥ जैसा कि अधोनिर्दिष्ट है :-

नियताक्षर चार पाद के उपोत्तम (=उपान्त्य) अक्षर में

↓	↓	↓	↓
अष्टाक्षर	दशाक्षर	एकादशाक्षर	द्वादशाक्षर
गायत्रपाद	वैराजपाद	त्रैष्टुभपाद	जागतपाद
↓	↓	↓	↓
लघु	गुरु	गुरु	लघु

इस तरह ऋचाओं के पाद में यदि केवल उपोत्तम (=उपान्त्य) एक ही अक्षर में 'लघु' या 'गुरु' का वृत्त बिठाना होता है, तो पाद के अवशिष्ट अक्षर में तो पदक्रम यथेच्छ रखा जा सकता है; और तब ऐसे पदक्रम का गुम्फन-तर्क क्या रहा होगा ? यह गवेषणीय बनता ही है । और मैक्डॉनल ने यह बात क्यों ध्यान में नहीं ली? ऐसा एक साश्चर्य प्रश्न भी होता है ॥

अब ऋचाओं के छन्दोविधान में 'वृत्त' केवल एक अक्षर तक ही परिपालनीय होने से पदक्रम की चर्चा सावकाश बनती है; ऐसा कहने के साथ साथ, ऐसा भी कहना चाहिए कि इस उपोत्तम अक्षर तक (ही) सीमित रहा यह वृत्त-विचार आंशिक रूप से तो पदक्रम के पूर्ण स्वेच्छाचार पर कुछ नियंत्रण भी डाल देता है ॥

३

इसी तरह, आचार्य शौनक ने ऋचाओं के पदक्रम पर एक दूसरी तरह का नियन्त्रण भी उल्लिखित किया है :-

अनुदात्तं तु पादादौ नोवर्जं विद्यते पदम् ॥ (ऋ० प्रा० 17-27)

अर्थात् ''केवल 'उ'कार को छोड़कर बाकी कोई भी अनुदात्त पद पाद के आरम्भ में नहीं आता है । (=नहीं आ सकता है ।)'' (इस नियमन पर

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अपना निरीक्षण देते हुए भाष्यकार उवट ने लिखा है कि – अयमपि पादान्तज्ञाने हेतुरेव, सर्वहेतुभ्यो बलवत्तमः ।*) यहाँ सारभूत बात यह निकलती है कि – पादारम्भ में उकार को छोडकर किसी भी अनुदात्त पद को नहीं रखा जाता है; यह भी ऋचाओं में पदक्रम का एक नियामक तत्त्व बनकर आता है ।

४

व्याकरण-वेदाङ्ग से यह ज्ञात नियम है कि प्रकृति+प्रत्यय के संयोजन काल से ही उनके जो अपने अपने उदात्तादि स्वरधर्म होते हें, वे भी सुबन्त या तिङन्त पदनिर्माण के समय एक निश्चित स्थान प्राप्त कर बैठ गये होते हैं। और अमुक अव्यय एवं अस्मद्-युष्मदादि के वः, नः, मा, त्वा इत्यादि वैकल्पिक रूप भी जन्म से ही सर्वानुदात्त होते हैं । या बहुव्रीहि – तत्पुरुषादि समासों के स्वरधर्म भी निश्चित होते ही हैं । अब ऐसे पूर्वनिर्धारित उदात्तादि स्वरधर्म वाले पद जब वेदमन्त्रों में प्रयुक्त होते हैं, तब उनकी अवस्थिति भी यथावत् बनी रहे ऐसा ही पदक्रम ऋषियों को सोचना चाहिए – यह भी निर्विवाद बात है ।

इस चर्चा का फलितार्थ यह है कि वेदमन्त्रों के पदक्रम को नियन्त्रित करनेवाला यह तीसरा परिमाण है । वैदिक संस्कृतभाषा में प्रत्येक पद शुरू से ही अपना-अपना निश्चित उदात्तादि स्वरधर्म लेकर ही जन्म लेता है; और वाक्यावस्था में उन सब की अपनी-अपनी पूर्वनिर्धारित स्थिति भी सुरक्षित रखनी आवश्यक होती है ॥

५

इस तरह ऋग्वेद की ऋचाओं में निश्चित अक्षरसंख्या से नियन्त्रित 'पाद' रूप ईकाई, उस ईकाई में आंशिक 'वृत्त' का परिपालन तथा पादारम्भ में अनुदात्त स्वर वाला अक्षर / पद नहीं रखने का नियम – ऐसे तीन तीन नियामक तत्त्व गर्भित रूप से कार्यरत है । और इनके साथ साथ वेदमन्त्रों के अन्दर जो पदावली निहित है वह भी निश्चित उदात्तादि स्वरधर्मों की रक्षा करती हुई सुप्रतिष्ठित की गई है । इस विभिन्न नियन्त्रणों से अंकुशित पदावली का

* ऋग्वेद-प्रातिशाख्यम्, (उवटभाष्यसमेतम्); सं. वीरेन्द्रकुमार वर्मा, प्रका. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1970 (पृ. 847)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

संतुलित सौन्दर्य एक उदाहरण के द्वारा दृष्टिगोचर करेंगे :-

एता नो अग्ने सौभगा दिदीह्यपि क्रतुं सुचेतसं वतेम ।
विश्वा स्तोतृभ्यो गृणते च सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

(ऋ. सं. 7-3-10)

अनुवाद : ''हे अग्नि ! तुम हमारे लिए सौभाग्य को प्रकाशित करो। हम यज्ञ करनेवाले और अच्छी बुद्धिवाले (पुत्र) को प्राप्त करें । सभी (धनधान्य) स्तुति करनेवालों के लिए, एवं (स्तुति)गान करनेवालों के लिए हो । आप सभी (देवता) हमारी हंमेशा के लिए अविनाशी मङ्गल से रक्षा करें ॥''

यहाँ पर त्रिष्टुप छन्द होने से एकादशाक्षर त्रैष्टुभ पाद की ईकाई रखी गई है, और उसी ईकाई में एक एक वाक्य को रख कर, कुल मिला के यहाँ चार वाक्य प्रस्तुत किये गए हैं। चार वाक्यों के चार स्वतन्त्र क्रियापद (दिदीहि, वतेम, सन्तु और पात) भी दिखाई पड़ते हैं ।

यहाँ पर जो नियताक्षर वाले त्रैष्टुभपाद का संग्रथन है, उसमें उपोत्तम अक्षर में 'गुरु' अक्षर का जो 'वृत्त' सुरक्षित है; तथा पादादि में केवल अनुदात्तस्वर से बना हुआ पद न होना चाहिए - यह नियम भी परिपालित है - यह छन्दोविधान विषयक तीनों नियन्त्रण चरितार्थ होते हुए दिखाई दे रहे हैं। यद्यपि पूर्वार्द्ध में ''दिदीह्यपि'' में व्यवाय से क्षैप्रसन्धि में ''दिदीहियपि'' ऐसा उच्चारण करके, प्रथमपाद में एक अक्षर बढा कर एकादशाक्षर त्रैष्टुपपाद सम्पन्न किया जाता है। तथैव उत्तरार्द्ध के चतुर्थ पाद में 'स्वस्तिभिः' के स्थान पर व्यवाय से 'सुवस्तिभिः' ऐसा पाठ किया जायेगा, और एकादशाक्षर पाद को सम्पन्न किया जायेगा। ऐसा करने पर एता नो अग्ने सौभगा दिदीहि । - इस प्रथम पाद के दशम (दी) अक्षर में, उपोत्तम अक्षर में 'गुरु' अक्षर आ जायेगा, और 'वृत्त' का परिपालन हो जायेगा ।

इस पाद में दृष्टिगोचर होनेवाले वाक्य का जो 'पदक्रम' है, वह भी ध्यातव्य है । क्योंकि व्याकरण-वेदाङ्ग के अनुसार प्रकृति+प्रत्यय का जब संयोजन होता है तब सुबन्त एवं तिङन्त पदों की रचना सम्पन्न होती है । इस प्रक्रिया के दौरान ही प्रकृति एवं प्रत्यय के स्वर परस्पर में मिलकर जो

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

पदसिद्धि होती है, उसी क्षण उस पद का स्वर निश्चित हो जाता है; जिसको वाक्यावस्था में सुरक्षित रखना होता है। जैसा कि बहुव्रीहि समासवाले पद आद्युदात्त ही रहने चाहिए, और तत्पुरुष समासवाले पद अन्तोदात्त ही रहने चाहिए। अस्मद् युष्मद् सर्वनाम के वैकल्पिक रूप, या अमुक निपात हंमेशा सर्वानुदात्त ही रहने चाहिए। तथैव, मुख्य वाक्य का क्रियापद भी सर्वानुदात्त होना चाहिए। अतः वेदकाल के ऋषियों ने जो नियताक्षर पाद में, वृत्तादि का परिपालन करते हुए, वाक्य की पदावली का 'क्रम' सोचा है, वह भी इस नियत उदात्तादि स्वरधर्म की रक्षा कैसे की जाय? यह सोच समझ कर वाक्यविन्यास किया है।

एता नो॑ अग्ने सौभ॑गा दिदीहि। – इस पाद में अस्मद् का वैकल्पिक 'नः', रूप; 'अग्ने' जैसा संबोधनपद; और 'दिदीहि' क्रियापद सर्वानुदात्त रहना अनिवार्य है। अतः उपरि निर्दिष्ट पदक्रम निर्धारित किया गया है। ऐसे पदक्रम के कारण क्या फल आया है ? तो –

(1) 'एता' पद का द्वितीयाक्षर उदात्त होने से उसके पीछे रखे गये 'नः' पद पर स्वरित स्वर आ के खडा रहेगा। तथा –

(2) तत्पश्चात्, उस 'नः' के स्वरित के पीछे संबोधन वाचक 'अग्ने' पद को रखा गया है। जिसके कारण वह सर्वानुदात्त बना रहेगा।

(3) और चौथे पदक्रम पर 'सौभगा' जैसे आद्युदात्त स्वरवाले पद को रखा है, ताकि भ के स्वरित के पीछे आनेवाला 'दिदीहि' क्रियापद भी निघात (=सर्वानुदात्त) को प्राप्त हो जाय॥

यहाँ पर, पदक्रम में किसी भी तरह का परिवर्तन करने पर – (क) प्रत्येक पद का इष्ट स्वर सुरक्षित नहीं रहेगा; और (ख) दशमाक्षर (उपोत्तम अक्षर) में 'गुरु' अक्षर का वृत्तभंग होने की सम्भावना खड़ी हो जायेगी।

उपसंहार :

जिन मन्त्रों की रचना में, अक्षरसंख्या का नियमन, 'वृत्त' का परिपालन, पादारम्भ में अनुदात्त पद का न होना इत्यादि छन्दोनियम की सुरक्षा भी हो; और साथ में प्रत्येक पद के स्वर की सुस्थिरता भी बनी रहे – ऐसा पदक्रम निर्धारित किया गया हो तो वैसी मन्त्ररचना पुरुषकृत होना सम्भवित नहीं लगती

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

है। दूसरे शब्दों में कहें तो वेदमन्त्रों का 'अपौरुष' होना यह केवल परम्परागत श्रद्धा का विषय नहीं है। अपि तु पूर्वोक्त नियन्त्रणों का परिपालन करने वाली मन्त्ररचना पामर मनुष्य की रचना नहीं हो सकती ऐसा हमारी बुद्धि से प्रतीत भी हो रहा है। अतः वेदों के पदों को अपरिवर्त्य माना जाय और अपौरूषेय भी माना जाय – ऐसा कहना युक्तियुक्त बन जायेगा। निष्कर्ष के रूप में कहेंगे कि – जिन मन्त्रों में पाद, वृत्त, स्वर एवं पदक्रम का संतुलन सिद्ध किया गया हो वह रचना ही परम सत्य होगी, वही परम शिवमयी होगी और वही परम सुन्दर भी होगी।

॥ इति शम् ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

16

पुत्रैषणा-पीडित संसार को शुनःशेपाख्यान का सन्देश*

भूमिका :

भारतीय संस्कृति में पैदा हुए किसी भी मनुष्य का मन यावत् जीवन त्रिविध एषणाओं से बद्ध-सुबद्ध -रहता है। यह एक निर्विवाद हकीकत है। ये तीन एषणाओं का नाम है - 1. पुत्रैषणा, 2. वित्तैषणा और 3. लोकैषणा। इन तीनों में से जो वित्तैषणा है, वह मनुष्य-जीवन के व्यावहारिक जीवन से नाता रखती है। और जो लोकैषणा है; वह पूर्वमीमांसा-प्रोक्त यज्ञयागादि से प्राप्त होनेवाले स्वर्गलोक आदि मरणोत्तर लोक से सम्बन्ध रखती है। परन्तु जो पुत्रैषणा है, वह मनुष्यमात्र की पृथिवीलोक पर सदैव बने रहने की शाश्वत एवं सार्वभौम इच्छा (सिसृक्षा) का अकाट्य अङ्कुर है। ऐसी पुत्रैषणा में पुत्र एवं पुत्री दोनों अभीष्ट है - यह बात तार्किक रूप से निहित है। लेकिन स्त्रीदेह की प्राकृतिक मर्यादाओं के कारण, स्त्रीदेह की अपेक्षा में पुरुषदेह सबल होने के कारण समाज में पुरुष का महत्त्व बढता गया है। और विश्व में बहुशः समाज पुरुषप्रधान आकारित होता रहा है। अतः मनुष्यमात्र के मन में पुत्रैषणा जडीभूत हो गई है। अतः ऐतरेयब्राह्मण में आयी हुई शुनःशेप की जो कथा है वह पुत्रैषणा-ग्रस्त जनमानस को अतीव सूचक रूप से मार्गदर्शक

---

* महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रिय वेद-विद्या प्रतिष्ठान, उज्जयिनी द्वारा आयोजित "विश्व-वैदिक सम्मेलन" (13-17 January, 2007) में प्रस्तुत शोध-आलेख।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

बन सकती है॥

* * *

यद्यपि शुन:शेप की कथा को अद्यावधि दूसरे ही परिप्रेक्ष्य में देखी जाती है। जैसे कि - वेदकाल में नरमेध याग होते थे या नहीं। शुन:शेपाख्यान में वरुणदेवता को कोई मनुष्य का बलि चढाने की बात आती है, इस लिये दुनिया भर के विद्वानों ने इसी एक ही बात को चर्चा का बिन्दु बनाया है कि वैदिक यज्ञ-यागादि में पशुबलि के साथ साथ मनुष्यों का भी बलि चढाया जाता था कि नहीं ? - परन्तु इस आख्यान में अन्ततोगत्वा कोई भी मनुष्य का बलि तो चढाया नहीं जाता है। इस के कारण पुनर्विचार की नितान्त आवश्यकता है॥

इस शुन:शेपाख्यान के प्रारम्भ में राजा हरिश्चन्द्रजी ने नारद को पूछा है कि - ज्ञानी एवं अज्ञानी दोनों प्रकार के लोग अपने औरस पुत्र की कामना करते है। तो मुझे यह बताओ कि पुत्र की कामना क्यों करनी चाहिये* ? इस जिज्ञासा का समाधान देते हुये नारदजी ने कहा कि पुत्र तो परम व्योम में भी ज्योति-स्वरूप होता है। दूसरी और, इस आख्यान के अन्त में कहा गया है कि किसी भी राजा के राज्याभिषेक के प्रसङ्ग में यह आख्यान का पाठ करना चाहिये, एवं जिसको भी पुत्र की कामना हो इन लोगों को भी इस आख्यान का श्रवण करना चाहिये** ।

शुन:शेप आख्यान के इस उपक्रम एवम् उपसंहार को ध्यान में रखते हुये यदि देखा जाय तो इस आख्यान में तीन पुत्रों एवम् तीन पिताओं की कथा प्रस्तुत हुई है। जैसा कि - प्रथम पिता की बात ऐसी है :-इक्ष्वाकुवंश के राजा हरिश्चन्द्र को सो सो पत्नीयाँ होते हुये भी वे अपुत्र थे। (इन सो पत्नीओं से उनको पुत्री प्राप्त हुई थी कि नहीं? यदि हुई थी तो उनका क्या किया गया

---

* यं न्विमम् पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति, ये च न। किंस्वित्पुत्रेण विन्दते, तन्मे आचक्ष्व नारद ॥ 1॥ अन्नं ह प्राण:, शरणं ह वासो, रूपं हिरण्यं, पशवो विवाहा:। सखा ह जाया, कृपणं ह दुहिता, ज्योतिर्ह पुत्र: परमे व्योमन् ॥ - ऐतरेयब्राह्मणम् 7-3-33-1 ॥

** तद् होता राज्ञे अभिषिक्तायाचष्टे।... पुत्रकामा हाप्याख्यापयेरन्। लभन्ते ह पुत्रान् लभन्ते ह पुत्रान् ॥ -ऐतरेयब्राह्मणम् - 7 - 3- 33 - 6

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

था ? इस विषय में आख्यानकार मौन है ।) परन्तु इन शत-सङ्ख्यक विवाहों के पीछे निश्चित रूप से, चालक परिबल के रूप में पुत्रैषणा ही रही होगी । नारद ने पुत्र के होने से जो जो लाभ मिलते है, उनको विस्तार से बताये हैं। जिनको सुन कर हरिश्चन्द्र वरुणदेवता से किसी भी किंमत पर पुत्र की याचना करता है । पुत्र एक बार पैदा हो जाय और वह उसका मुखदर्शन करले तो वह कृतकृत्य हो जायेगा । और उसके बाद वह वरुण को पुत्र की बलि चढाने के लिये भी तैयार है । हरिश्चन्द्र को इस शर्त पर पुत्र मिल गया । यहाँ प्रस्तुत आख्यान की कथा से मालुम होता है कि मनुष्यमात्र में जो पुत्रैषणा है, वह आदमी को प्रथम अन्धश्रद्धा में डूबो देती है । देवताओं को बलिदान दे कर पुत्र प्राप्त किया जाता है - ऐसा मानना एक बड़ी भ्रान्ति है । दूसरे स्तर पर यहाँ देखा जाता है कि पुत्र-प्राप्ति के बाद पिता हरिश्चन्द्र मोहान्ध हो जाते हैं और वरुण को बलिदान देने के वादा से बार बार पीछे हठ करते रहेते हैं । वरुणदेव जब भी बलि के रूप में पुत्र को माँगने के लिये आते हैं तब वे एक के बाद एक बहाना दिखलाते हुये अपने पुत्र की बलि देने का टालते रहते हैं ॥

जो दूसरा पिता है वह सुयवस् का पुत्र अजीगर्त है । वह बेचारा भूख से पीड़ित है । उसके पास आश्रित के रूप में उसकी पत्नी और तीन पुत्र भी है । भूख के असाधारण एवम् अपरिहार्य सङ्कट में फंस कर भी वह अपने किसी भी पुत्र को बाझार में बेच दे वह उचित नहीं है । अतः वह कुटुम्ब के धुरिण होने के नाते स्वयं ही बीक जाय तो वही ठीक माना जायेगा । परन्तु ''सभी को अपनी ही आत्मा सबसे अधिक प्रिय होती है''- इस क्रूर सत्य को ध्यान में लिया जाय और फिर सोचा जाय तो शायद तीन में से एक पुत्र को बेच देने की बात कदाचित् सह्य बन सकेगी । इसी तरह से, माता-पिता की युगों पुरानी एक निर्बलता भी कुबुल की जाय कि पिता को ज्येष्ठपुत्र ही प्रिय होता है और माता को कनिष्ठपुत्र ही अधिक प्रिय होता है । तो बेचारा 'तपस्वी' मध्यमपुत्र ऐसी विषम परिस्थिति में निश्चित ही बलि का बकरा बन जाता है । इस तरह, क्षुधार्त पिता अजीगर्त राजा हरिश्चन्द्र से सो गायों को ले कर, उसके बदले में (विनिमय से) एक पुत्र को बेच दे तो वह कदाचित् - हाँ कदाचित् ही - अनिच्छा से न्यायिक बताया जा सकता है । किन्तु वही

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

पिता अपने पुत्र (शुनःशेप) को यज्ञीय पशु के रूप में, हरिश्चन्द्र की यज्ञशाला में बाँधने को तैयार हो जाय और ऐसे अधम कृत्य के लिये दूसरी सो गायें माँग ले तो वह लोभीवृत्ति का परिणाम ही कहा जायेगा।

महीदास ऐतरेय ने (आख्यानकार ने) लोभ की पराकाष्ठा भी बतायी है। यूप के साथ पुत्र शुनःशेप को बाँधने के बाद पिता अजीगर्त अपने पापकर्म से विरत नहीं होता है। यज्ञ में शुनःशेप का बलि के रूप में जब तक कोई वध नहीं करेगा, तब तक यज्ञ पूरा नहीं होगा। गाँव में से कोई भी चाण्डाल आकर एक मनुष्य का वध करने को तैयार नहीं है। अतः शुनःशेप का पिता अजीगर्त लोभवशात् इस पापकर्म के लिये तैयार होता है। उसने तीसरी सो गायों को मांग कर ले ली। तथा निर्दयतापूर्वक अपने ही पुत्र का वध करने के लिये नंगी तलवार लेकर उठ चलता है। - यह चित्र एक लालची पिता की निर्घृणता को उद्‌घाटित करता है। दर्शनशास्त्रो में जो षड् रिपु के रूप में गिनाये गये है - काम, क्रोध, मध, मोह, लोभ और मस्तर - उनमें से उत्तरोत्तर रिपु को बलवत्तर होना माना गया है। अर्थात् पहेले कामादि चार रिपुओं से पाँचवा लोभ नामक रिपु अधिक बलवान् है। इस दृष्टि से देखा जाय तो दूसरे प्रकार के पिता ने लोभग्रस्त होकर, केवल पितृमर्यादा का ही भङ्ग नहीं किया है, परन्तु उसका अतिक्रमण करके पापमार्ग पर सुदूर तक निकल गया है।

३

तीसरे पिता के रूप में ऋषि विश्वामित्र है, जिनके एक-सो एक पुत्र थे। उनके होतृत्व में शुनःशेप का यज्ञ में बलि देना निश्चित हुआ था। उन्होंने अपने सम्मुख दयनीय दशा में बंधे हुए शुनःशेप को यज्ञीय-पशु के रूप में देखा है। उसकी दयनीय मनोयातना एवम् निःसहायता भी प्रतिपल देखी है। और विकट परिस्थिति में देवों की उपासना का मार्ग पकडनेवाला, स्वयं ही अपना उद्धारक बनकर मृत्यु-पाश में से छुटने का प्रयास करनेवाले धैर्यवान् शुनःशेप उन्होंने बारिकी से देखा है। प्रजापति, अग्नि, सविता, वरुण, विश्वेदेवा, अश्विनौ, इन्द्र और उषा - सभी वैदिक देवताओं को शुनःशेप अपने मन्त्रबल से क्रमशः प्रत्यक्ष करता जाता है। उनसे बातचीत भी करता है। ऐसा सच्चा विद्यावान् ब्राह्मणपुत्र किस ऋषि को पसंद नहीं आयेगा ?

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

ऋषि विश्वामित्र ने ऐसे शुनःशेप को ही अपनी विरासत – ज्ञानराशि – को संभालने वाला समझा... और मन ही मन शुनःशेप को अपने पुत्र के रूप में उसको स्वीकार लिया। विश्वामित्र एक पिता के रूप में गुणज्ञाता व्यक्ति थे। उन्हों ने अपने प्रथम पचास पुत्रों को बुलायें, और शुनःशेप को ज्येष्ठ-बन्धु के रूप में स्वीकारने को कहा। परंतु उन पुत्रों ने पितृ-आज्ञा नहीं मानी। अतः विश्वामित्र ने उन पचासों को 'अपुत्र' जाहिर कर दिये। वे ऋषि-सम्पत्ति के दाय भाग से वंचित हो गये। इस के बाद, जो मधुच्छन्दा नामक इक्यानवाँ पुत्र था और उनके जो सभी अनुज थे, उन्होने शुनःशेप को अपना जयेष्ठ भ्राता मान लिया। फिर विश्वामित्र ऋषि ने शुनःशेप को ''देवरात'' (देवतायें जिसकी राति अर्थात् धन, सम्पति है, वह) नामसे उद्घोषित किया। पुत्रैषणा रखनेवाले मनुष्यों को चाहिये कि वे पहेले विश्वामित्र जैसे गुणज्ञाता पिता बने। विश्वामित्र ने अपने शताधिक पुत्रों की अपेक्षा से श्रेष्ठ पुत्र के रूप में इस मन्त्रद्रष्टा शुनःशेप को ही पसंद किया है और उसको अपने पुत्र के रूप में भी स्वीकार लिया है – यह बात बहुत सूचक है। यदि ऐसा पुत्र मिला हो तो ही नारद ने जो कहा था कि – ''पुत्र परम व्योम में भी ज्योति होता है,'' – वह चरितार्थ हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥

४

इस आख्यान में राजा हरिश्चन्द्र, दरिद्र अजीगर्त एवं ऋषि विश्वामित्र जैसे तीन पिताओं की तुलना करनी आवश्यक बनती है, वैसे ही तीन प्रकार के पुत्रों की भी तुलना करने योग्य है। जैसा कि – पहेला है राजा हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहित। वह अपने पिता के प्रस्ताव का विरोध करता है और पितृ-आज्ञा को ठुकरा कर, प्राणों की रक्षा करने के लिये गृहत्याग करके वन में विचरण करने लगता है। इस के बाद पिता को जलोदर नामक रोग हुआ है – ऐसा सुन कर, पितृवात्सल्य से प्रेरित हो कर वह घर वापस आने का निर्णय करता है। परंतु मार्ग में इन्द्रदेव मिल गये, (जो वरुण के दुश्मन थे,)उसके कहने में आ जाता है और वह बार बार दूसरों के (इन्द्र के) कहने में आकर वन में वापस लौट जाता है।

''चरैवेति चरैवेति, चराति चरतो भग।'' इन शब्दों से इन्द्र ने जो उपदेश दिया था, इसका फल यह आता है कि हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित को

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

वन-विचरण के दौरान, तीन पुत्रों को साथ में लेकर अन्न की तलाश में घुम रहे एक दरिद्र पिता अजीगर्त मिल गया। रोहित ने राजपुत्र होने के कारण, राजलक्ष्मी के जोर पर, अर्थात् बाप-कमाई के जोर पर, दरिद्र व्यक्ति के एक दीन-हीन पुत्र (शुनःशेप) को खरीद कर अपने साथ में ले कर राजमहल में वापस आता है। राजकुमार रोहित ने मन में ऐसा सोच रखा है कि इस दरिद्र-ब्राह्मणपुत्र का बलि द कर, वरुण के पाश से पिता को वह मुक्त करा लेगा और अपने आप को भी मौत से मुक्ति मिल जायेगी। – यहाँ पर इन्द्र के कहेने में आकर बार बार वन-विचरण करते रहेते रोहित का, पहेले एक अनिर्णायक मनोबलवाले पुत्र के रूप में परिचय मिलता है और बाद में, स्वार्थी तथा बाप-कमाई का आश्रयण लेनेवाले राजपुत्र के रूप में परिचय मिलता है। संसार में यह पहेले प्रकार का पुत्र है ॥

५

संसार में जो दूसरे प्रकार का पुत्र होता है, वह ऋषि विश्वामित्र के अग्रज 50 पुत्रों हैं। वे विश्वामित्र जैसे मन्त्रद्रष्टा पिता की भी आज्ञा मानते नहीं हैं। पिता की भावनाओं की अवहेलना करनेवाले इन पुत्रों ने पैतृक-विरासत खो दी और शापित भी हुये। परिणामतः वे समाज में दस्युओं जैसा जीवन जीने लगते है। इक्यानवाँ मधुच्छन्दा नामक पुत्र और उनके अनुज 50 भ्रातृ-समूह ने पिता की आज्ञा मान ली। विश्वामित्र की दृष्टि में विश्वास करनेवाले इन पुत्रों ने शुनःशेप को अपने ज्येष्ठ भ्राता के रूप में स्वीकार कर लिया ॥

६

तीसरे प्रकार का जो पुत्र सदैव स्पृहणीय होता है, वह है शुनःशेप। पूरे आख्यान को पढ कर लगता है कि वह क्षुधा-पीडित व्यक्ति जरूर थाय, परन्तु नित्य विद्याव्यासङ्ग करने वाला पुत्र था। क्योंकि वरुण के पाश से मुक्त होने के लिये जो मन्त्र ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल और पञ्चम मण्डल में आये हुये है इन सब को वह अच्छी तरह से जानता था। साथ में वह स्वयं भी, प्रथम मण्डल में संगृहीत अनेक मन्त्रो का द्रष्टा ऋषि भी है। अत एव वह ऋषि विश्वामित्र की दृष्टि में स्पृहणीय पुत्र बन जाता है। विश्वामित्र को अपने ही 101 औरसपुत्र थे। किन्तु उनको शुनःशेप जैसा मन्त्र-द्रष्टा पुत्र न होने का

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अफसोस था । अतः वह अपने औरसपुत्रों को बुला कर के शुनःशेप को ज्येष्ठ-बन्धु के रूप में स्वीकारने की आज्ञा देता है । उनकी दृष्टि में शुनःशेप जैसा पुत्र ही संग्राह्य एवं स्पृहणीय है ।

विश्वामित्र ने पूरी यज्ञक्रिया के दौरान देखा है कि शुनःशेप सही अर्थ में देवरात है । अग्नि, वरुण, इन्द्र, अश्विनौ, विश्वेदेवा एवं उषा इत्यादि देवतायें ही उनकी सम्पति – राति – थे, और उन्ही के बल उपर उसने अपनी मुक्ति हाँसील की है ।

यहाँ पर शुनःशेप विद्या-व्यासङ्गी होने के कारण अमुक मन्त्र जानता है या नये मन्त्र देख (रच) सकता है – इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है । उसने तो अपने पिता का पाप भी उनहे मुँह पर कह दिया है । अर्थात् शुनःशेप सत्य का अपरोक्ष दर्शन भी कर सकता है और पिता के सम्मुख खडा रहे कर वह बता भी सकता है । वही उसकी महानता है । ऐसे सत्य को बोलने वाले को हीं वरुण पाश से मुक्त करता है, दूसरे को नहीं । क्योंकि वरुण तो नीतिमत्ता का एवं ऋत का पालक देव कहा गया है । अतः वह सत्यनीति के द्रष्टा शुनःशेप को बन्धन से मुक्त कर देता है । ऐसा सत्यवक्ता पुत्र ही पिताओं के लिये परम व्योम में ज्योति स्वरूप बन सकता है । और ऐसे पुत्र की ही कामना रखनी चाहिए । अर्थात् पुत्रैषणा भी विवेकदृष्टि से नियन्त्रित होनी चाहिये ।

इस तरह का शुनःशेपाख्यान का नया अर्थघटन प्रस्तुत करने के बाद, इस आख्यान का उपसंहार भी तुरंत समझ में आ जायेगा कि – 1. किसी भी राजा के अभिषेक-प्रसंग में इस आख्यान का पाठ करवाने की सूचना क्यूं दी गई है । केवल जन्म से हम किसी के वारिस नहीं बन सकते है, या किसी का आधिपत्य नहीं मिल सकता है । 2. तथैव, पुत्र की इच्छा रखनेवालों को भी इस आख्यान का पाठश्रवण करना चाहिये – ऐसा जो उपसंहार में कहा गया है वह भी पूर्वोक्त तीन तरह के पुत्रों को ठीक से समझ लेने के लिए ही है ॥

यहाँ आनुषंगिक रूप से यह बताना भी जरूरी है कि इस आख्यान के उपक्रमोपसंहार को देखते हुए – "वेदकाल में नरबलि दिया जाता था कि नहीं ?" जैसी युरोपिय विद्वानों के द्वारा चलाई गई चर्यायें सारे संसार में आजदिन तक होती रही है, परन्तु वह चर्चा भ्रान्तदिशा में चल रही है – ऐसा

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

प्रतीति होता है ।

अब प्रस्तुत अभिनव दृष्टि से देखा जाय तो पुत्रैषणा से पीडित इस संसार को शुनःशेप का यही सन्देश है कि स्त्रीभ्रूण-हत्या से विरत होने का अवसर आ गया है । कोई भी पुत्री मातपिता को नरक में नहीं ले जाती है, और सब के सब पुत्र परम व्योम में ज्योति नहीं बन सकते हैं ॥

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. **ऐतरेय-ब्राह्मणम्** - सायण-भाष्यसमेतम् (प्राच्य भारती ग्रन्थमाला - 14), सं. डॉ. सुधाकर मालवीय, प्रकाशक - तारा बुक एजन्सी । वाराणसी, 1996.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

17

"हिरण्यगर्भ-सूक्तम्" (१०-१२१-४) में निर्दिष्ट भारतवर्ष या भूमण्डल

ऋग्वेद (10-121) में समस्त सृष्टि के सर्जक और नियन्तास्वरूप परमात्मा की "हिरण्यगर्भ" नाम से स्तुति की गई है। प्रोफे. वेलणकरजी कहते है कि दशम मण्डल में ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च ईश्वर की अनेक नामों से स्तुति की गई है। जैसे कि - ब्रह्मणस्पति (10-72), विश्वकर्मन् (10-81, 82) आम्भृणी वाक् (10-125) और एकसत् (10-146-46) इत्यादि। इसी तरह से प्रस्तुत 10-121 में "हिरण्यगर्भ' नाम से परमेश्वर की स्तुति-प्रशंसा निरूपित हुई है। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में हिरण्यगर्भ देवता को "प्रजापति" ऐसे नाम से सम्बोधित किया गया है। यह शब्द ही सूचित करता है कि हिरण्यगर्भ देवता इस सृष्टि के प्राणीमात्र के पति है, स्वामी है। प्रस्तुत सूक्त की आरम्भिक नव ऋचाओं में हिरण्यगर्भ के विभिन्न ऐश्वर्यों की परिगणना की गई है। जैसे कि - वह हिरण्यगर्भ भूतमात्र के पति है, उसने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया है। वह देव ही प्राण और बल देनेवाला है। हिरण्यगर्भ की आज्ञा को अन्य सभी देव सन्मानित करते हैं। वही देव जङ्गम जगत् का, और दों पादवाले और चार पादवालें प्राणियों का राजा है। जो देव का महिमा हिमालय से समुद्र पर्यन्त फैला हुआ है, जिसने पृथिवी को, द्युलोक को, और सूर्य को स्थिर किया है, जिसने अंतरिक्ष में जल को भी उत्पन्न किया है और अग्नि को उत्पन्न करनेवाले सृष्टिजल में से उत्पन्न हुआ वह हिरण्यगर्भ एक अद्वितीय देवता है।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

इत्यादि । यहाँ पर जो-जो ऐश्वर्य वर्णित हुआ है, उनको ऋग्वेद के द्वितीय से नवम मण्डल में एक-एक करके, पृथक् रूप से एक-एक अलग-अलग देवता के लिए निरूपित किया गया है; लेकिन इस दशम मण्डल में तो एक सर्वोच्च देव की कल्पना शुरू हो गई है, कि जिसमें ऐसे सभी ऐश्वर्यों का एकसाथ में सम्मेलन हुआ हो ।

सृष्टि के सर्जक और द्युलोक - पृथिवीलोकादि के नियन्ता स्वरूप इस 'हिरण्यगर्भ' नामक देव को ऋषि बार-बार - प्रत्येक मन्त्र के अन्तिम चरण में कहते है कि ''कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (10-121-1)'' अर्थात् इस ध्रुव पंक्ति में ऋषि कहते हैं कि 'क' नामक प्रजापति देव की हम हविष् से अर्चना/परिचर्या करते हैं । आधुनिक विद्वान् लोक यहाँ प्रश्न परक अनुवाद करते है कि ''हम हविष् या पुरोडाशादि के द्वारा किस देव की पूजा-अर्चना करें ?''

परन्तु हमारे सायणादि भाष्यकार ''कस्मै'' पद की चतुर्विध व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि -

(क) अत्र किंशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते ॥ अर्थात् यहाँ पर 'किम्' शब्द से जिसका स्वरूप अज्ञात है ऐसे प्रजापति देव की स्तुति की गई है ।

(ख) सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः । अर्थात् सृष्टि को उत्पन्न करने की जो कामना कर रहे है, वह देव 'क' नामक है ।

(ग) कम् सुखम् । तद्रूपत्वात् 'कः' इत्युच्यते । अर्थात् 'कम्' यह सुख का नाम है । और जो देव सुख से सम्पन्न है उसी को भी 'क' कहते है । और ऐसे 'क' देव की हम - ऋषि - हविष् से परिचर्या करते है ।

(घ) एक बार इन्द्र देव स्वयं प्रजापति के पास जाकर, प्रजापति का ऐश्वर्य माँगते है । तब प्रजापति कहते हैं कि - ''मैं तुम्हें मेरा ऐश्वर्य देकर कैसा हो जाउँगा ?'' (कः कीदृशः स्याम्) इसको सुनकर इन्द्र कहता है कि तुम मुझे 'अहं कः स्याम्' ऐसा प्रश्न पूछते हो तो तुम (प्रजापति) आज से 'कः' नाम से विख्यात हो जाओ ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अर्थात् 'कः' नाम प्रजापति का वाचक है, वह कोई सर्वनामवाचक शब्द नहीं है ऐसा भाष्यकार स्पष्ट करते हैं। और साथ में यह भी कहते हैं कि 'कस्मै' ऐसा जो (सर्वनाम जैसा) चतुर्थ्यन्त रूप है वह व्यत्ययो बहुलम्। (पाणिनीय सूत्र) से सिद्ध होता है। मूलतः यह 'काय' के अर्थ में 'कस्मै' रूप बनाया है। (अतः वह प्रश्नवाचक नहीं रहता है।)

'हिरण्यगर्भ' (10-121) सूक्त का इतना परिचय प्राप्त करके, अब हम प्रस्तुत शोधपत्र के केन्द्रवर्ती विषय का प्रतिपादन करेंगे :

इस सूक्त की चतुर्थ ऋचा में कहा है कि -

यस्मेमे हिमवंन्तो महित्वा यस्ये समुद्रं रसयां सहाहुः ।
यस्मेमाः प्रदिशो यस्यं बाहू कस्मै देवायं हविषां विधेम ॥

(10-121-4)

(अनुवादः) यह हिमवाले (पर्वत) जिनका महान् ऐश्वर्य माना गया है, नदि(याँ) सहित का समुद्र भी जिसकी महिमा है, और सभी दिशाएँ भी जिनके दो बाहु माने गए है ऐसे 'क' नाम के प्रजापति देव की हम (ऋत्विजो/ऋषिओं) हविष् से पूजा-अर्चना करते हैं ॥

सायणाचार्य ने 10-121-3 मन्त्र में आये हुए 'महित्वा' शब्द को तृतीया विभक्त्यन्त लेकर 'महत्त्वेन' ऐसा अर्थ लिया था। परन्तु प्रस्तुत चतुर्थ मन्त्र में 'महित्वा' का अर्थ 'महत्त्वम् = माहात्म्यम् ऐश्वर्यम्'' ऐसा प्रथमा विभक्तिपरक अर्थ लिया है, और 'आहुः' क्रियापद के साथ अन्वय करके वाक्यसमाप्ति इस प्रकार बताई है : इमे हिमवन्तः पर्वताः, यस्य प्रजापतेः महित्वा आहुः। (यह हिमवाले पर्वत जो प्रजापति का महत्त्व माना गया है) ॥

दूसरी और, वेंकटमाधव भाष्यकार बताते हैं कि 'महित्वा' यह तृतीयान्त रूप ही है, और यहाँ पर 'तिष्ठन्ति' क्रियापद का अध्याहार लेकर वाक्य सम्पन्न करना है। अर्थात् जिसके (प्रजापति देव के) ऐश्वर्य=महिमा से (ही) यह हिमवाले पर्वत खड़े है। इत्यादि।

इस मन्त्र के द्वितीय पाद में (अर्थात् 'यस्य समुद्र रसया सहाहुः'में) आये हुए 'रसा' शब्द का वेंकटमाधव और सायण ने अलग अलग अर्थ लिया है। जैसे कि - (क) वेंटक के अनुसार 'रसा' यानी पृथिवी। अर्थात् इस

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

पाद का अर्थ ऐसा होगा कि – "इस पृथिवी सहित का उदधि जिस (हिरण्यगर्भ) का अवयवभूत है।" तथा (ख) सायण ने 'रसा' का अर्थ 'रसो जलम्। तद्वती रसा नदी।' ऐसा लिया है। अतः पूरे पाद का अर्थ होगा – "नदी सहित का समुद्र जिस (हिरण्यगर्भ) की महिमा मानी गई है।" ग्रिफीथ इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों ने भी 'रसा' को वेदकाल की कोई नदी मानी है।

अब प्रश्न उठता है कि यह 'रसा' नामकी नदी (अतिप्राचीन वेदकाल में) कहाँ पर आयी हुई थी? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रोफे. एच. डी. वेलणकरजी लिखते है कि – "हिमवन्तः" याने हिमालय पर्वत। "समुद्र" के साथ "रसा" नदी का नाम ऋग्वेद में सिर्फ यहीं (10–121–4) पाया जाता है। "बाहू" के आधार पर यदि इसे पूर्व एवं पश्चिम दोनों दिशाओं का वाचक मान लें तो, दक्षिण दिशा में यह 'रसा' नदी के अस्तित्व का अनुमान करना संभव है।"

प्रोफे. वेलणकरजी का उपर्युक्त अनुमान बड़ा दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि 'रसा' नदी कहाँ पर होगी इस बात का निर्णय लेने के लिए उन्होंने इस मन्त्र में आये हुए "हिमवन्तः'= हिमालय, और 'समुद्र' = उदधि शब्दों की ओर ध्यान आकृष्ट करके, 'बाहू' ऐसे द्विवचनान्त शब्द का अर्थ 'पूर्व दिशा' और 'पश्चिम दिशा' लेने का पसंद किया है। जिससे वेदकाल के भारतवर्ष की सीमाओं का अंकन हो जाता है! अर्थात् ऋग्वेद में केवल एक बार आया हुआ यह हिमवन्तः शब्द हमारे नगाधिराज 'हिमालय' का वाचक है, जो भारत-वर्ष की उत्तर सीमा बताता है। दूसरा 'समुद्रम्' शब्द जो सामान्य रूप से 'निघण्टु' के आधार पर तो 'अन्तरिक्ष' का वाचक होता है, परन्तु प्रस्तुत मन्त्र में तो वह 'उदधि' अर्थ का वाचक माना गया है। यह 'समुद्र' शब्द दक्षिण सीमा पर खड़े 'हिन्दी महासागर' का द्योतक है। और 'बाहू' शब्द से निर्दिष्ट पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा आज के गुजरात, (पश्चिम) पाकिस्तान। अफघानिस्तान और दूसरी तरफ आसाम, बर्मा/ब्रह्मप्रदेश का परिचायक बनता है।

इस तरह से प्रोफे. वेलणकरजी के अनुमान का विस्तार करने से हम यह कह सकते है कि – इस मन्त्र में आर्यसंस्कृति का जहाँ पर प्रचार-प्रसार था ऐसे हिन्दुस्तान (बृहद्-भारत) के भूक्षेत्र का यहाँ प्रकट रूप से निर्देश है।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

इस अनुमान में एक और बात भी अन्तर्निहित हो जाती है कि – आर्यप्रजा मध्य एशिया (अर्थात् आज के रशिया) से आक्रमण करती हुई कहीं बाहर से भारत में आकर नहीं रही है। वह तो मूलतः भारत में ही उत्पन्न हुई थी। अस्तु ।

प्रोफे. वेलणकरजी का अनुमान आह्लादजनक होते हुए भी, और आर्यों की भारतवर्ष के प्रति अस्मिता प्रकट करनेवाला होते हुए भी ऐसा लगता है कि इस मन्त्र का पूर्वापर सन्दर्भ में पुनः विचार करना आवश्यक है। मेरा अनुमान यह है कि इस मन्त्र में भारतवर्ष की सीमाओं का वर्णन नहीं है, परन्तु यहाँ पर तो जो भूममण्डल – पृथिवी का गोला है इसके स्वरूप का निरूपण किया गया है। क्योंकि प्रस्तुत सूक्त (10–121) के पञ्चम मन्त्र में कहा है कि –

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च॑ दृळ्हा येन स्व॑ स्तभितं येन नाकः ।

10-121-5 A

अर्थात् "जिस प्रजापति देव ने इस द्युलोक को उग्र और पृथिवीलोक को दृढ याने स्थिर किया है, और स्वर्लोक को स्तम्भित किया है।"

यहाँ पर तीन लोक का – त्रिभुवन का निर्देश करनेवाले तीनों शब्दों– द्यौः, पृथिवी, स्वः को पृथक्–पृथक् गिनाये है। अतः उपर्युक्त चतुर्थ मन्त्र में जो 'रसा' शब्द है वह भूखण्ड (= बिना समुद्रवाली केवल जमीन) का वाचक हो सकता है, क्योंकि उस चतुर्थ मन्त्र में 'समुद्र' का तो पृथक् निर्देश है ही। तो "यस्य॑ समुद्रं रसया॑ सहाहुः।" इस द्वितीय पाद का अर्थ 'रसा=जमीनवाले भाग के साथ आया हुआ समुद्र जिस हिरण्यगर्भ की महिमा है ऐसा होगा। और अब, मन्त्र के प्रथम पाद में आये हुए (यस्मेमे हिमव॑न्तो महित्वा" यहाँ पर) हिमवन्तः का अर्थ हिमालय नहीं होगा, परन्तु 'हिमाच्छादित उत्तरध्रुव–दक्षिणध्रुव' ऐसा करना चाहिए। क्योंकि 'समुद्र' शब्द के साथ आया हुआ 'रसा' शब्द केवल भूक्षेत्र – जमीनवाला भाग का वाचक होता है, और जमीनवाले भाग में सभी नदियाँ और हिमालयादि पर्वत समाविष्ट हो ही जाते है। अतः प्रथम पाद के 'हिमवन्तः' शब्द से 'हिमाच्छादित उत्तर ध्रुव––दक्षिण ध्रुव' अर्थ ही ऋषि को अभीष्ट होगा। अर्थात् ऋषि जब हिरण्यगर्भ जैसे देव

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

की महिमा गा रहे है – उनके अलौकिक ऐश्वर्य का इस सूक्त में प्रदर्शन/निरूपण कर रहे है, तब वह ''केवल भारत वर्ष की सीमाओं तक ही हिरण्यगर्भ का महिमा बताते है'' ऐसा कहना बड़ा संकुचित विधान होगा या उसे ऐतिहासिकों का वेदार्थघटन कहा जाएगा। परन्तु हमने नैरुक्त परम्परा का अनुसरण करते हुए पूर्वापर सन्दर्भ में, और विशेष, रूप से 'समुद्र' शब्द के साथ आये हुए 'रसा' शब्द को देखकर 'हिमवन्तः' शब्द समझने का जो सुझाव दिया है, इससे ही हिरण्यगर्भ की महिमा अनादि-अनन्त है, ऐसा सिद्ध होगा। भूमण्डल की जमीन, समुद्र, पूर्वदिगन्त, पश्चिमदिगन्त (रूपी बाहुद्वय) और हिमाच्छादित उत्तरध्रुव-दक्षिणध्रुव तक यह हिरण्यगर्भ देव का ऐश्वर्य फैला हुआ है उसी 'क' नामक प्रजापति हिरण्यगर्भ की हमें हविष् से परिचर्या करनी है। इति शुभं भूयात् ॥*

---

* अखिल भारतीय 'विराट वैदिक सम्मेलन' (18,19 Dec-1993) जयपुर में प्रस्तुत शोधपत्र, (''महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रिय वैदिक वेदविद्या प्रतिष्ठान'' उज्जयिनी एवं ''श्री वैदिक संस्कृति प्रचार संघ,'' जयपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित।)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

18

श्रीमद्भागवत महापुराण में वैदिक देवतासृष्टि का तिरोधान

यह सुविदित है कि मन्त्रसंहिताओं में अग्नि, इन्द्र, वरुण, यम, प्रजापति, मरुदादि बहुविध देवताओं की स्तुतियाँ प्रस्तुत है।[1] इन सभी देवताओं के द्वारा ही इस सृष्टि का आविर्भाव हुआ है, और उसका सञ्चालन भी इन के द्वारा होता है। प्रस्तुत आलेख में वैदिक-देवतासृष्टि का पुराणकाल में कैसे क्रमशः तिरोधान हो जाता है, यह बताने की कोशिश की है। विशेष रूप से श्रीमद्भागवत पुराण को लेकर उस में इन्द्र देवता का वेदोक्त प्रधानभाव कैसे गौणत्व को प्राप्त करके, अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण तिरोहित हो जाता है – इस की सोदाहरण चर्चा करनी अभिप्रेत है।

हम जानते है कि वेदसाहित्य में इन्द्रदेवता का प्राधान्य सर्वोपरि है, और इस देवता का वृत्रासुर के साथ बार बार युद्ध होता है। और इन्द्र की विजय होती है। इस युद्ध में कदाचित् इन्द्र को मरुद्गण की या विष्णु की साहाय्य भी मिलती है। वैदिक पुराकथाओं में यह बात भी कही जाती है कि वैदिक देवगण आदितः अजर एवं अमर नहीं थे। लेकिन कालान्तर में उन्होंने तप या सोमपान से अमरत्व प्राप्त किया था। तत्पश्चाद् उपनिषत्काल में इन्हीं इन्द्रादि देवों का सर्वोपरित्व या स्वामित्व अमान्य भी किया गया है। केनोनिषद् में

1. अखिलभारतीय व्यास-महोत्सव, (9-13 Dec. 2008) वाराणसी में प्रस्तुत शोध-आलेख ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

सर्वोपरि सत्ता के रूप में 'ब्रह्मन्' तत्त्व को प्रस्थापित किया गया है ॥

इन वेदोक्त पुराकथाओं (Myths) का विविध पुराणों में, उपबृंहण करने के साथ साथ स्थानान्तरण, रूपान्तरणादि करते करते, वेदोक्त सृष्टिविद्या के मूलभूत तत्त्वों का संरक्षण करते हुए बादरायण व्यास ने अपनी निजी पौराणिक दृष्टि से एक अद्वितीय पुराणसाहित्य का निर्माण किया है ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण के आरम्भ में ही व्यास ने प्रस्तुत पुराण रचना का प्रयोजन उद्घोषित करते हुए लिखा है कि-

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यद् अहैतुकम् ॥ 1-27

वासुदेवपरा वेदा, वासुदेवपरा मखाः ।
वासुदेवपरा योगा, वासुदेवपराः क्रियाः ॥ 1-2-28

वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥ 1-2-29

इन श्लोकों से मालुम होता है कि श्रीमद्भगवतपुराण में भगवान् वासुदेव के प्रति जो भक्तियोग होना चाहिए उसका निरूपण केन्द्रीकृत विषय है। और इस भक्तियोग को उद्भासित करने के लिए वेदवर्णित देवतासृष्टि को भी वासुदेवाश्रित चित्रित की गई है।

(२)

भगवान् विष्णु के अवतार स्वरूप वासुदेव श्रीकृष्ण पर आश्रित वैदिक देवतासृष्टि का चित्र देखने से पहेले, हम ऋग्वेद स्थित विष्णु-देवता विषयक पुराकथा का संक्षेप में अभ्यास कर लेंगे। ऋग्वेद में द्युस्थानीय देवताओं में - सविता, पूषन्, अर्यमन्, आदित्य, उषस् आदि का समावेश होता है, जिसमें विष्णु का भी समावेश है। यहाँ विष्णुसूक्तों की संख्या चार-पाँच से अधिक नहीं है।[२] इनमें से दीर्घतमस् ऋषि के जो सूक्त है, उसमें विष्णु के लिए उरुक्रम, उरुगाय, त्रिविक्रम, युवा, बृहच्छरीर, अकुमार जैसे विशेषणों का प्रयोग किया

2. ऋग्वेद - 1-154, 1-15 5, 1-22, 7-36, 7-99, 100, एवं 8-29 ध्यानास्पद है ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

गया है। दूसरी ओर सप्तम मण्डल में वसिष्ठ ऋषिने विष्णु के लिए 'शिपिविष्ट तथा 'निषिक्तपा' - इन दो विशेषणों का ध्यानास्पद प्रयोग किया है। यद्यपि यह बात एकदम स्पष्ट है कि ऋग्वेद में वर्णित विष्णुदेवता द्युस्थानीय है और वह सूर्यदेवता ही है। परन्तु पुराणकार व्यासजीने विष्णु के लिए प्रयुक्त पूर्वोक्त विशेषणों का श्रीमद्भागवत-महापुराण में बडे रोचक स्वरूप में उपबृंहण किया गया है।

'विष्णु' शब्द का निर्वचन करते हुए आचार्य यास्क ने लिखा है कि - यह् विषितो भवति, तद् विष्णुर्भवति। विष्णुर्विषतेर्वा, व्याप्नोतेर्वा, तस्यैषा (ऋक्) भवति। (निरुक्त, अ-12) इस पर दुर्गने कहा है कि - विषितो व्याप्तोऽयमेव सूर्यो रश्मिभिः भवति तदा विष्णुः भवति। अर्थात् व्यापनशील सूर्य के लिए 'विष्णु' शब्द का प्रयोग होना यथार्थ है। वेदों में इस विष्णु को 'त्रिविक्रम' कहा है।[3] इस वेदोक्त पुराकथा का उपबृंहण करके भागवतपुराण में वामन आख्यान की रचना की गई है।

इसी तरह से 'विष्णु' जो कि सविता देव का ही पर्याय है, उसके लिए वसिष्ठने ''शिपिविष्ट'' शब्द का प्रयोग किया है। यह विशेषण सूर्यरश्मिओं को ध्यान में रखते हुए प्रयुक्त हुआ है। सूर्य अपनी किरणों रूपी शिपि से पृथिवी में प्रवेशता है, और बीजों को अंकुरित करता है। और यदि 'विष्णु' (पृथिवी में) गर्भाधान करनेवाला हो तो, वसिष्ठ की दृष्टि में वह विष्णु 'निषिक्तपा' (ऋ 7-36-4) भी होना चाहिए। अर्थात् गर्भाधान करनेवाले विष्णु ही गर्भ के (निषिक्त रेतस् के) संरक्षक भी बने॥ इन दो विशेषणों द्वारा जो वेदोक्त पुराकल्पन (Myth) प्रस्तुत हुई थी, उसका उपबृंहण करते हुए व्यासजीने षष्ठस्कन्ध में मरुद्गण की उत्पत्ति वर्णित की है, और दशम स्कन्ध में वसुदेव-देवकी के सात गर्भों की हत्या करनेवाले कंस का संहार करनेवाले श्रीकृष्ण को विष्णु के अवतार कहे है। वेदोक्त ''निषिक्तपा'' शब्द का चारितार्थ्य बताने के लिए ही व्यासने देवकी के अष्टमगर्भ के रूप में श्रीकृष्ण का जन्म वर्णित किया है॥

---

3. उरुगायो विचक्रमे, यत्र देवासो मदन्ति। (ऋ. 8-22-17)
इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। (ऋ. 1-22-17)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

(३)

वैदिक पुराकथाओं का उपबृंहण करने के साथ साथ व्यासने 'विष्णु' विषयक एक नवीन पुराकल्पन का भी सर्जन कर लिया है । भारतीय परम्परागत मान्यता के अनुसार व्यासने मन्त्रों का संहिताकरण कर लेने के बाद 'महाभारत' की रचना की थी । इस महाभारत में ऐतिहासिक कृष्ण का चरित भी उन्होंने वर्णित किया था । अतः वे जब पुराणों की रचना करते है तब वेदोक्त 'विष्णु देवता' और महाभारतोक्त 'श्रीकृष्ण' का समाहार करके एक नवीन 'चतुर्भुज विष्णु'' का नवसर्जन भी करते है ।

'चतुर्भुज विष्णु' की जो परिकल्पना पुराणों में वर्णित है, वह शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी विष्णु है, यह सर्वविदित है । परन्तु ध्यान दे कर सोचा जाय तो पुराणकाल के विष्णु के दो हाथों में जो 1. सुदर्शन चक्र एवं 2. पद्म है - वह दोनों वेदकालीन सूर्यदेवता के द्योतक प्रतीक है । क्योंकि नभोमण्डल में सूर्य ही सु-दर्शन (सुन्दर दर्शनीय) है और जो दिनरात का कालचक्र चलानेवाला भी है । ('सुदर्शनचक्र' से आयुध का बोध कराना - यह पुराणोक्त मान्यता है ।) तथा सूर्योदय होते ही पद्म=कमल विकसित होता है । अतः विष्णु के हाथ में रहा 'पद्म' सूर्य का परिचायक बनता है ॥ तथा अन्य दो हाथों में जो 3. गदा एवं 4. शङ्ख रखे गये है, वे दोनों महाभारतकालीन श्रीकृष्ण के प्रत्यायक है । महाभारत के भीष्मपर्व में (श्रीमद्भगवद्गीता में) अवतारवाद का शङ्ख फूंकते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है कि -

परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥[४]

इस से साधुपरित्राण और दुष्टों के विनाश के लिए विष्णु के हाथ में गदा स्थापित की गई है, तथा ''संभवामि युगे युगे'' का वादा देने के लिए एक अन्य हाथ में शङ्ख रखा गया है । इस तरह से, व्यासने वेदकालीन विष्णु (सूर्य) और महाभारतकालीन श्रीकृष्ण को एकत्र मिला कर 'चतुर्भुज विष्णु' की अपूर्व कल्पना का निर्माण किया है । अर्थात् पुराणों में भी, व्यास के द्वारा सृष्टिविद्या की केन्द्रभूत वेदोक्त सूर्योपासना नवीन स्वरूप में प्रवाहित की गई है ।

---

4. श्रीमद्भगवद्गीता (अध्याय 4)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

(४)

व्यासजी के हाथों से वेदोक्त पुराकथाओं का उपबृंहण और नवसर्जन होने के साथ साथ अन्य वैदिक देवतासृष्टि का कैसे क्रमिक विसर्जन भी हुआ है यह भी रसप्रद ज्ञातव्य विषय है। परन्तु वैदिक देवताओं का विसर्जन देखने से पहेले, व्यास ने वेदों में वर्णित इन्द्र देव की प्रधानता एवं सर्वोपरिता का जो स्थानान्तरण किया है वह भी द्रष्टव्य है – ऋग्वेद में 33 या उससे भी अधिक देवताओं की स्तुतियाँ की गई है। परन्तु सब से अधिक 250 सूक्तों में जिसकी स्तुति की गई है वह देवता है इन्द्र। गृत्समद् ऋषि के 'स जनास इन्द्रः' (2-12) सूक्त को देखने से मालुम होता है कि देवों में सर्वोपरि देव 'इन्द्र' ही है। तथा इस इन्द्र के सहायक-देवों में विष्णु (उपेन्द्र) एवं मरुद्गण आते हैं। परन्तु पुराणकार व्यास के हाथों से यह इन्द्र एवं विष्णु का प्रधान-गौणभाव स्थानान्तरित हो जाता है। जैसा कि – श्रीमद्भागवत महापुराण के अष्टमस्कन्ध को[5] देखने से मालुम होता है कि इन्द्रादि देवों ने जब बृहस्पति की अनुपस्थिति में विश्वरूप का सहारा लिया तो उसने देवों को 'नारायणकवच' का उपदेश दिया। तदनन्तर शङ्खचक्रपद्मगदाधर नारायण प्रकट हो कर वृत्रासुर को मारने के लिए दधीचि के गात्रों ले आने की सलाह देते हैं। जिससे 'वज्र' बनवा कर इन्द्र ने वृत्रासुर कि दो भुजायें काट ली। तब वृत्र ऐरावत हस्ती सहित इन्द्र को निगल जाता है। परन्तु मायावी इन्द्र 'नारायण-कवच' की रक्षा से सुरक्षित रहा, और वृत्र का उदर फाड कर बाहर नीकल जाता है। तब फिर से भीषण युद्ध होता है। यहाँ पर वृत्रासुर मरने से पहेले जो कहता है, वह ध्यातव्य है –

नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः।
तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयन्त्रितो, यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः॥

(भा.पु. 6-11-20)

वृत्र – "हे इन्द्र! तेरे इस वज्र में श्रीहरि का तेज है, और दधीचि का तप है, और तुम विष्णु से संचालित है, अतः तुम मुझे मार सकते हो।

5. षष्ठ स्कन्ध में वैदिक देवतासृष्टि के यमदेवता एवं प्रजापति देवता की वासुदेवाश्रितता पहेले वर्णित की गई है। इस के लिए अनुक्रम से अजामिलोपाख्यान (6-3-7 से 12) तथा दक्ष प्रजापति के वंशविस्तार की कथा अवलोकनीय है।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

जहाँ श्रीहरि होते है वहीं पर विजय, श्री और सभी गुण होते है।'' इन्द्रने वृत्रासुर का वध तो किया, परन्तु अब ब्रह्महत्या का पाप इन्द्र को सताता है। इन्द्र भाग कर मानस सरोवर की एक कमलनाल में प्रविष्ट हो जाता है। वहाँ पर हजारों वर्षो तक कमल-विहारिणी लक्ष्मी ने (अर्थात् विष्णुपत्नीने) इन्द्र का रक्षण किया। इस तरह वृत्रासुरवध-प्रसङ्ग में भी व्यासजी के द्वारा बार बार इन्द्र कि रक्षा विष्णु के अधीन है यह बताया गया है ॥

(५)

दितिने अपने 'हिरण्याक्ष' एवं 'हिरण्यकशिपु' नामक दो पुत्रों की हत्या हो जाने के बाद कश्यप की सेवा करके 'इन्द्रहन्ता' एवं 'अमृत्यु' पुत्र का वरदान माँगा[६]। कश्यप ने अदिति के पुत्र इन्द्र की भी रक्षा का विचार मन में रखते हुए, दिति को 'पुंसवन वैष्णवी व्रत' का उपदेश दिया।

अब इन्द्र इस वैष्णवव्रत अमोघ फल-प्रदाता है, ऐसा जानकर छद्म वेष से दिति का दास बन के रहता है। संवत्सर पर्यन्त चलनेवाले इस व्रत में कदाचित् क्षति होने के इन्तजार में इन्द्र बैठा था। एकदा दिति ने उच्छिष्ट मूँह रखा था, तब शयन किया। इन्द्र उसी समय दिति के उदर में जा कर गर्भ को सात टुकडों में काट देता है। परन्तु गर्भस्थ शिशु वैष्णव-व्रत के कारण सुरक्षित थे, वे मरे नहीं। और रोने लगे। इन्द्र ने 'मा रोदीः'' कह कर फिर प्रत्येक टुकडों को सात-सात करने उनपचास (49) टूकडें कर दिये। फिर भी वे नहीं मरे, तब इन्द्र ने उसको अपने बान्धव के रूप में स्वीकार कर लिया।

यहाँ कश्यप ने दिति को जो वरदान दिया था, उसके शब्द ध्यातव्य है -

पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहाऽदेवबान्धवाः।
संवत्सरं व्रतमिदं यद्यञ्जो धारयिष्यसि ॥

इस श्लोक पर श्रीधर ने मर्मोद्घाटन करते हुए लिखा है कि -वैष्णवं व्रतं तावदुपदेक्ष्यामि तेनैव अस्याः शुद्धचित्ताया इन्द्रं प्रति क्रोधो निवर्तिष्यते,

---

6. वरदो यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्द्रहणं वृणे।
अमृत्युं मृतपुत्राहं येन मे घातितौ सुतौ ॥ श्रीमद्भागवतम् (6-18-3)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

पुत्रस्त्वमर्त्यो भविष्यति, दीर्घकालत्वे च व्रतस्य कथंचिद् वैगुण्ये सतीन्द्रस्य वधोऽपि न भविष्यतीति ॥[7] दिति के (मरुद्) पुत्र भी अमर्त्य बनेंगे, तथा व्रत में वैगुण्य पैदा होने पर इन्द्र का भी वध नहीं होगा ॥ – इस तरह से मरुद्गण की उत्पत्तिकथा सूनानें में भी व्यास ने वैदिक इन्द्र देवता की रक्षा वैष्णवव्रत पर आधृत है यह सूक्ष्म बात प्रदर्शित की है ।

(६)

भागवत के षष्ठ स्कन्ध में जहाँ जहाँ वैदिक देवों की विष्णु–आश्रितता प्रदर्शित है, (जैसे कि – दधीचि की हड्डी से बने वज्र में विष्णु का तेज, नारायण कवच की रक्षा, कमल–विहारिणी लक्ष्मी का शरण और पुंसवन वैष्णव–व्रत) वहाँ विष्णु की परोक्ष साहाय्य वर्णित है । तथा वेदवर्णित इन्द्र का सर्वोपरित्व अब छीन लिया गया है, और वह विष्णु पर स्थानान्तरित होता जा रहा है ।

अष्टम स्कन्ध में इन्द्र की विष्णु–आश्रितता में और बाढ आती है। क्योंकि असुरों से परास्त होता हुआ इन्द्र अब बार–बार विष्णु की प्रत्यक्ष साहाय्य पर जीने लगा है – ऐसा वर्णन व्यास ने प्रस्तुत किया है –

एकबार असुरों ने स्वर्गलोक पर आक्रमण किया, तब देवों के प्राण नीकल गये, वे गिर पड़े । इन्द्र–वरुणादि निस्तेज हो कर भगवान् अजित की शरण में गयें । उसने इनको समुद्रमंथन के लिए प्रोत्साहित किये । भगवान् विष्णु ने मन्दराचल को उठा कर समुद्र में रखा और स्वयं कच्छप रूप धारण करके मन्दराचल की आधारशिला बने । वासुकिनाग में अपनी शक्ति का संचार भी किया । और अन्त में अमृतकुंभ नीकलने पर 'मोहिनी' रूप धारण करके देवों को अमृत–पान करवाया । यहाँ विष्णु की प्रत्यक्ष साहाय्य से देवों को अमरत्व प्राप्त हुआ ऐसा वर्णन है । अब इन्द्र–विष्णु का वेदोक्त प्रधान–गौणभाव सम्पूर्ण बदल जाता है । विष्णु की सर्वोपरिता एवं प्राधान्य दोनों उद्घाटित होते जाते है ॥

वञ्चित हुए असुरों ने स्वर्ग में फिर से आक्रमण किया । बलि ने विश्वजयी यज्ञ किया । तब इन्द्रादि देवगण स्वर्ग भ्रष्ट होने की भीति से आतंकित

7. श्रीमद्भागवतपुराणम् षष्ठः स्कन्धः संपादकः श्रीकृष्णशङ्करशास्त्री, सोला, अहमदाबाद ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

था। तब अदितिने पयोव्रत का पालन किया और विष्णु अवतार स्वरूप वामन का प्राकट्य होता है। वेदोक्त विष्णु की 'त्रिविक्रम' होने की कथा का उपबृंहण करके व्यासने वामन के विराट होने की नयी पुराकथा हमारे सामने प्रस्तुत की। इन्द्रादि देवों को फिर से विष्णु की प्रत्यक्ष साहाय्य से ही त्रिविष्टप वापस मिला।[8] पुराणों में अब विष्णु सर्वोपरि एवं उपकारक देव की भूमिका में है, और वेदोक्त इन्द्रादि देव गौणत्व की भूमिका पर उतर आते है, और 'उपकार्य' की कोटि में चले जाते हैं॥

(७)

व्यासने विष्णु की सर्वोपरिता प्रस्थापित करने के बाद इन्द्रादि वैदिक देवातासृष्टि का तिरोधान भी करने का उपक्रम श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में रखा है। पहले (बिन्दु क्रमांक 3 में) कहा गया है कि व्यासने वेदोक्त विष्णु और महाभारत-कालीन श्रीकृष्ण का समाहार करके पुराणो में 'चतुर्भुज विष्णु' का नवसर्जन-नवकल्पन-कर लिया है। अतः अब दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण जब अपने पिता नन्दजी से प्रस्ताव रखते है इन्द्रमख (यज्ञ) बंध रखा जाय, और उसके स्थान पर गोवर्धन पर्वत की पूजा की जाय, तब यह बात अत्यंत स्पष्ट हो जाती है कि पुराणकारों ने वेदोक्त इन्द्र देवता की सर्वोपरिता छीन कर चतुर्भुज विष्णु को दी है, तथा इन्द्रादि वैदिक देवों की वासुदेवाश्रितता बतानी शुरू कर दी है। (भागवत-धर्म का क्रमिक उद्भव हो रहा है।)

दशम स्कन्ध में वर्णित इन्द्रमखभंग प्रसंग में श्रीकृष्ण के मुख में रखे गये शब्दों को देखा जाय तो -

इन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं प्राह केशवः।
कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते॥
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥ 10-24-12, 13

रजसा चोदिता मेघा वर्षयन्त्यम्बूनि सर्वतः।
प्रजास्तैरेव सिद्ध्यन्ति, **महेन्द्रः किं करिष्यति** ॥ 10-24-23

---

8. एवमिन्द्राय भगवान् प्रत्यानीय त्रिविष्टपम्।
पूरयित्वादितेः कामम् अशासन् सकलं जगत्॥ भा. 8-23-4

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

कर्म के सिद्धांत को एवं सत्त्व-रजसादि के सांख्योक्त सिद्धान्त को पुरस्कृत करके श्रीकृष्ण ने, इन्द्र की ''वृष्टि के देवता' के रूप में जो प्रतिष्ठा थी वह भी छीन ली है। इन्द्रमखभंग प्रसंग इसका प्रतीक है। व्यास ने श्री कृष्णचरित के द्वारा पौनःपुन्येन वैदिक देवतासृष्टि का तिरोधान कर दिया।

तथा दूसरी ओर से, कलियनाग दमन का प्रसंग चित्रण करके इन्द्रविषयक एक वेदोक्त पुराकथा का स्थानान्तरण भी कर दिया है। वेदों में कहा गया है कि इन्द्र ने 'अहि' (एक सर्प) को मार कर पानी को बहाया।[९] विष्णु के अवतार स्वरूप श्रीकृष्ण ने भी यमुना के जल में प्रविष्ट हो कर कालियनाग का दमन किया। और यमुनाजल को विषमुक्त किया। अब वेदोक्त इन्द्र देव (पुराणोक्त) श्रीविष्णु (एवं श्रीकृष्ण) के सामने सर्वथा निस्तेज हो गये है॥

(८)

इन्द्र-अहि की वेदोक्त पुराकथा का स्थानान्तरण (Displacement) करके श्रीकृष्ण-कालिदमन की पुराकथा का नवसर्जन व्यासने किया है - ऐसा जब कहते है तब इसी पुराकथा से सम्बद्ध एक दूसरे पहलु की भी बात करनी चाहिए -

महाकवि कालिदासने 'रघुवंश' (6-49) में कहा है कि-

त्रातेन तार्क्ष्यात् किल कालियेन
मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थल-व्यापिरुचं दधानः
सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्॥

इस श्लोक में, कालिदास के समय में प्रचलित पुराकथा का निर्देश है - यहाँ ऐसा कहा गया है कि कालियनाग ने गरुड के त्रास से मुक्त होने के लिए, एक मणि को अपने मस्तक से उतार कर यमुना नदी में निवास किया था। (जिस मणि को शूरसेन के राजा क्रथकैशिक ने धारण किया था;) और उस मणि को देख कर कौस्तुभमणि को धारण करनेवाले कृष्ण लज्जित हो रहे थे॥

परन्तु कालिदास के समय में प्रचलित उपर्युक्त पुराकथा पुराणकार व्यास के हाथ से सर्वथा बदल दी गई है, श्रीमद्भागवत में तो कहा गया है कि विष्णु को

9. त्वं वृत्रं शवसा जघन्वान् त्सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानान्। ऋ. 4-17-1

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

कौस्तुभ मणि की प्राप्ति तो समुद्रमंथन के समय हुई थी। चतुर्भुज विष्णु के वक्षःस्थल पर कौस्तुभमणि शोभायमान हो रहा है। (कालिदासोत्तर) पुराणकाल में प्रचलित हुई ऐसी नवीन मिथक का कारण यही हो सकता है कि विष्णु के हाथ में रहा सुदर्शनचक्र जैसे 'सूर्य देवता है' इस बात का द्योतक बन जाता है, उसी तरह से यह कौस्तुभ मणि भी विष्णु के 'सूर्य' होने का प्रतीक है।

(९)

महाभारतोक्त अवतारवाद के आधार पर जब श्रीमद्भागवत पुराण में चतुर्भुज विष्णु के अवतार के रूप में वासुदेव श्रीकृष्ण को प्रस्थापित किया जाता है, तब वेदोक्त सूर्यात्मा स्वरूप विष्णु का श्रीकृष्ण के साथ पूरा अभेद भी प्रस्थापित किया जाता है। तद्यथा - 1. श्रीकृष्ण गायों से परिवेष्टित है, गोपाल है - ऐसा कहने का तात्पर्य यही है कि अनेकार्थक 'गो' शब्द का एक अर्थ सूर्यकिरण भी है। अतः श्रीकृष्ण का गो-परिवेष्टित होना सूर्य का प्रत्यायक भी बनता है। 2. सूर्यकिरण में सात रंगों का समाहार है, इस सत्य को ध्यान में रखते हुए, पुराणकार ने श्रीकृष्ण को भी मयूरपिच्छधारी बनाया है। 3. सूर्यरश्मि का रंग पीत होता है, और दूसरी ओर श्रीकृष्ण भी पीताम्बरधारी है ऐसा देखकर यह बात भी समझ में आती है कि पुराणकार व्यास वासुदेव श्रीकृष्ण का वेदोक्त सूर्यात्मा स्वरूप विष्णु के साथ अभेद प्रस्थापित करना चाहते हैं।

सूर्यात्मा स्वरूप विष्णु ही श्रीकृष्ण है - इस बात का साद्यन्त निर्वहण करने के लिए पुराणकार व्यासने श्रीकृष्ण के देहोत्सर्ग की भूमि भी भारत के पश्चिमभाग में समुद्रतटस्थित प्रभासपाटण-तीर्थ बताई है। इस तीर्थ स्थान से ही सूर्य कि अंतिम किरण समुद्र में जाती है।[१०] ऐसा स्कन्दपुराण में कहा गया है। इस भागवत के आरंभ में (द्वितीयाध्याय में) ही जो कहा था कि "वासुदेवपरा वेदाः" वेद याने वैदिक देवतासृष्टि वासुदेव श्रीकृष्णाश्रित है - ऐसा बताना **श्रीमद्भागवत पुराण की रचना का प्रधान प्रयोजन** है। वह विचार सर्वत्र सुचारु रूप से अनुस्यूत है।

10. प्रभाया मन्दिरे नित्यं स्थीयतां हिमनाशन।
अग्रपत्नी समस्तानां भार्याणां क्रियतां रवे ॥ (98-13)
-स्कन्दपुराणम् (पञ्चमो भागः) सं-मनसुखराय मोर, कलकता (पृ. 929)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

(१०)

सृष्टिविद्या के सन्दर्भ में पौराणिकी दृष्टि की यदि विचारणा की जाय तो वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का स्मरण करना उपयुक्त रहेगा । व्याकरण की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा है कि –

यत्तत् पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः ॥ (वाक्यपदीयम् – १-१२) इस कारिका की स्वोपज्ञ टीका में भर्तृहरिने लिखा है कि – त्रीणि ज्योतिंषी, त्रयः प्रकाशाः । अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में तीन ज्योतियाँ है, जिसके तीन तरह के प्रकाश है। तद्यथा 1. सूर्य 2. आत्मा और 3. शब्दब्रह्म ॥ इन तीनों ज्योतिओं में तारतम्य भी है । इस ब्रह्माण्ड में यदि किसी भी तरह की जीवसृष्टि का प्रादुर्भाव करना है तो सब से पहले सूर्यरूप ज्योति की जरूरत है । लेकिन ब्रह्माण्ड में आत्मत्व रूप ज्योति / चैतन्य स्वरूप ज्योति नहीं होगी तो सृष्टि के विस्तार की कोई गुंजायश नहीं है। अतः यह आत्मतत्त्व को पुण्यत्तर ज्योति कही जायेगी । और शब्दस्वरूप तीसरी ज्योति न होने पर मनुष्यसृष्टि पशुसृष्टि में परिवर्तित हो जाती है । अतः शब्द रूप ज्योति को पुण्यतम ज्योति कही है ॥

इन त्रिविध ज्योतिओं में से वैयाकरणों ने शब्दब्रह्म रूप तीसरी ज्योति की उपासना की है । जो वेदान्ती दार्शनिक है, वे आत्मतत्त्व रूप दूसरी ज्योति की विचारणा करते है । परन्तु पौराणिक दृष्टि से तो सूर्य–विष्णु–रूप प्रथम ज्योति ही आराध्य है, क्योंकि सृष्टिविद्या का वह मूल है । और **इसी प्राथमिक ज्योति की वर्णना में ही भागवतपुराण के रचनाकार व्यास साद्यन्त रममाण है।** वेदोक्त विष्णु जो सूर्यात्मक है, उसी की पुराकथाओं का उपबृंहण करते हुए व्यास, अन्य इन्द्रादि देवों की पुराकथाओं का स्थानान्तरण, रूपान्तरणादि करते हुए 'चतुर्भुज विष्णु' की अपूर्व कल्पना का निर्माण भी करते है । तथा वासुदेव श्रीकृष्ण के साथ विष्णु का अभेद बताते हुए सूर्यात्मक ज्योति की विचारधारा अक्षुण्ण बनाये रखते हैं – यह रोमांचकारी हकीकत है ॥

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता)

—x—

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

19

स्कन्दपुराणे वर्णितं सोमनाथस्य प्रभासपत्तनस्य च खागोलिकं भौगोलिकञ्च माहात्म्यम्*

पुराणेषु वर्ण्यमानानां सर्गादिविषयाणां वैविध्यं पञ्चविधं वर्तत इति परम्परया मन्यते, तथापि तत्रान्येषामपि विषयाणां प्रवेशो निर्बाध एव। भारतवर्षे यानि व्रतोपासनादीनि तीर्थस्थानानि वा विद्यन्ते तेषामपि माहात्म्यवर्णनं पुराणेषु प्राशस्त्यं भजते। अत एव वैयासिकीं प्रतिभामनुसरद्भिरनेकैः पौराणिकैस्तीर्थस्थान-वर्णनान्युपनिबद्धानि। पुराणग्रन्थेषु तादृशी वर्णनशैली बहुशो दृश्यते यत् कस्यचिद् देवस्य देव्या सह संवादः प्रथमं प्रस्तूयते। तदेव मत्स्यपुराणे स्कन्दपुराणे वा शिवपार्वत्योर्मध्ये प्रश्नोत्तररूपं शङ्कासमाधानपरकं वा संभाषणमेव दरीदृश्यते। किन्तु तत्र सूत्रमणिन्यायेन यत्तीर्थादिवर्णनं संग्रथितं वर्तते तदस्माकं कृतेऽतीव ध्यानास्पदम्। अतीते काले भारतीयैरार्षेण चक्षुषा ब्रह्माण्डभाण्डोदरे विलसद् रहस्यजातं साक्षात्कृतमासीत् तत्सर्वं तीर्थमाहात्म्यमिषेण ग्रन्थारूढं वर्तते। तीर्थस्य यत्तीर्थत्वं (तीर्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या यत्स्फुटीभवति) तत्तीर्थत्वं तदैवात्मसात् भवेत् यदा तादृशे तीर्थमाहात्म्ये गुम्फितं खागोलिकं वा भौगोलिकं वा यत् किमपि रहस्यजातमस्माभिर्ज्ञायेत। पुराणग्रन्थानाम् अध्ययनकालेऽध्येतृभिरिदम् अवश्यमेव ध्येयं यद्हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुख्म्। (ईशावास्योपनिषत् - 1)

---

* वाराणस्यां सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयेन "पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय जन्मशताब्दी समारोहेति" प्रसङ्गमधिकृत्यायोजितायाम् आन्ताराष्ट्रियायां पुराणेतिहासविद्वत्संगोष्ठ्यां (9-11 Feb. 1999) प्रस्तुतमिदं शोधपत्रम्॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

वार्तारसेणाप्लावितम् आख्यानोपाख्यानादिकं स्याद् यद्वा तीर्थमाहात्म्यं स्यात्, किन्तु तत्र सूक्ष्मेक्षिकयाऽऽलोच्यमानं तार्किकं वैज्ञानिकं वा किमपि सत्यजातमस्माकं चक्षुरुन्मीलनायालम्। अतः प्रस्तुते शोधपत्रे स्कन्दपुराणमनुसृत्य ज्योतिर्लिङ्गात्मको भगवान् सोमनाथो यत्र वर्तते, तस्य प्रभासपत्तनस्य यद्भौगोलिकं महत्त्वमास्ते, यच्च सोमनाथस्य खागोलिकं स्थानवैशिष्ट्यं विलसति तन्निरूपणाय प्रक्रम्यते।

१

जगद्गुरुरामानुजाचार्यपीठाधिपतिः श्रीराघवाचार्यः स्कन्दपुराणमधिकृत्य लिखति यद्अस्मिन् पुराणे प्रतिखण्डं शिवस्य प्रतिष्ठा पौनःपुन्येन दृश्यते। यतो ह्यत्र षडाननेन स्कन्देन माहेश्वरः शैवधर्मः प्रतिपाद्यते। स्कन्दपुराणं द्विविधं प्रतिभातिः–1. षट्सु संहितासु विभक्तं स्कन्दपुराणम्, अन्यच्च 2. सप्तेषु खण्डेषु विभक्तं स्कन्दपुराणम्। तद्यथा – (1) माहेश्वरखण्डः, (2) वैष्णवखण्डः, (3) ब्राह्मखण्डः, (4) काशीखण्डः, (5) अवन्तीखण्डः, (6) नागरखण्डः, (7) प्रभासखण्डश्च। मतान्तरेणावन्तीखण्डस्य नागरखण्डस्य च स्थाने रेवाखण्डः तापीखण्डश्चेति द्वौ खण्डौ स्तः। सप्तखण्डात्मकस्य स्कन्दपुराणस्यैव महापुराणरूपेण प्रख्यापना श्रूयते। तथाप्युभयविधस्य स्कन्दपुराणस्यैकाशीतिसहस्रसङ्ख्यात्मकाः श्लोकाः समानमेव।[1] श्रीमता मोरेत्युपाह्वधारिणा मनःसुखरायेण संपादितस्य स्कन्दपुराणस्य पञ्चमे भागेऽवन्तीखण्डान्तर्गतं रेवाखण्डं पश्यामः। यत्र पञ्चाशीतितमेऽष्टनवतितमे चाध्याये क्रमशः सोमनाथतीर्थस्य, प्रभासतीर्थस्य च माहात्म्यवर्णनं वर्तते। अध्यायद्वयमिदं लक्ष्यीकृत्य कथातत्त्वेनापिहितं यद्रहस्यजातं संगोपितं दृश्यते, तद् इदानीं प्रकटीक्रियते॥

२

ऋषिर्मार्कण्डेयो युधिष्ठिराय कथयति यद् भो राजेन्द्र! नर्मदातोऽपि यत्पुरातनं, वाराणस्या च समं पुण्यजनकं सोमतीर्थं त्वं गच्छेः। तच्च तीर्थं ब्रह्महत्यायाः पापादपि प्रमोचयति। राज्यापहरणेन दुःखसागरे निमग्नो युधिष्ठिरो यदा सोमतीर्थस्य माहात्म्यं सम्यगवबोद्धुं जिज्ञासां प्रदर्शयति, तदर्षिणा मार्कण्डेयेन वर्णितम् –

---

1. स्कन्दपुराणम् (गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क–20); संपादकः श्री मनसुखराय मोरः, कलकत्ता, विक्रम संवत्–2017 इत्यत्र भूमिका॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

दक्षस्यापि तथा जाताः पञ्चाशद् दुहिताः किल ॥ 7

ददौ स दश र्माय कश्यपाय त्रयोदश ।
तथैव स महाभागः सप्तविंशतिमिन्दवे ॥ 8

रोहिणी नाम या तासामभीष्टा साऽभवद्विधोः ।
शेषासु करुणां कृत्वा शप्तो दक्षेण चन्द्रमाः ॥ 9

क्षयरोग्यभवच्चन्द्रो दक्षस्यायं प्रजापतेः ।
स च शापप्रभावेण निस्तेजाः शर्वरीपतिः ॥ (1-10) ॥

ततः शापाद् वेपमानः कलाहीनश्च भूत्वा शर्वरीपतिः कमलयोनेः ब्रह्मणः शरणं प्रपन्नः । ब्रह्मणा च संदिष्टश्चन्द्रमाः शङ्करं तोषयितुं वर्षशतं तपस्तेपे ॥

काष्ठावस्थः स्थितः सोमो दध्यौ त्रिपुरवैरिणम् ।
यावद्वर्षशतं पूर्णं तावत् तुष्टो महेश्वरः ॥ (1-16)

अत्र शापस्योपशमं कुर्वन्नीश्वरो भणति -

तव भक्तिगृहीतोऽहमुमया सह तोषितः ।
निष्पापः सोमनाथस्त्वं सञ्जातस्तीर्थसेवनात् ॥ (1-24)

तदनन्तरं पुराणकारो लिखति यद् -

इत्यूचे देवदेवेशः, क्षणं ध्यात्वेन्दुना ततः ।
स्थापितं परमं लिङ्गं कामदं प्राणिनां भुवि ॥ 25

उक्तेषु श्लोकेषु या कथा संनिबद्धा दृश्यते, ततः प्रतीयते यद् 1. दक्षस्य शापाच्चन्द्रमाः क्षीणतां गतः । एवञ्च 2. ततः शिवप्रसादाच्छापाद् विमुक्तेन चन्द्रमसा पृथिव्यां शिवलिङ्गं कुत्रचित् स्थापितम् ॥ एतत्तु विदितचरमेव यत् कृष्णपक्षे चन्द्रमसः कलाया एकैकशः क्षयो भवति। एवञ्चान्ततो गत्वाऽमावास्यायां तिथौ चन्द्रबिम्बं सर्वथा विलुप्तं भवति । कृष्णपक्षस्यैतानि दिनानि चन्द्रमसः शापितावस्थां प्रख्यापयन्ति । तदनन्तरं शुक्लपक्षे चन्द्रमसः कलाः प्रतिदिनं क्रमशः वृद्धिं गच्छन्ति । शिवप्रसादाच्छापाद् विनिर्मुक्ते सति, शुक्लपक्षस्य द्वितीयायां तिथौ दक्षिणस्याः पश्चिमायाश्च दिशोर्मध्ये नित्यमेवोदीयमानं चन्द्रमसमवलोकयितुं पारयामः । नान्यत्रः ॥ एतत् खागोलिकम् अपरिवर्त्यमानं दर्शनमनादिकालाद् अनुभूयते सर्वैर्मानवैः । अत एव भारतवर्षस्य दक्षिणपश्चिम-

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

दिशयोर्मध्ये गुजरातराज्यस्य यत्र सौराष्ट्रप्रान्तो वर्तते, तत्र भगवतः सोमनाथस्य ज्योतिर्लिङ्गं वरीवर्तमानं दृश्यते । सोमस्य चन्द्रमसो नाथः स्वामीश्वरो भगवान् शङ्करोऽत्र प्राचीनकालादारभ्य विराजते । यस्य च कृपया क्षीणसत्वश्चन्द्रमाः पुनरपि शुक्लपक्षे द्वितीयायां तिथावुदेति नित्यम् । अस्य खागोलिकस्य सत्यस्योन्मीलनायैवाऽऽर्यप्रजया भारतवर्षस्य दक्षिणपश्चिमसमुद्रतटे शिवलिङ्गस्य स्थापना कृता, तस्य च सोम-नाथेति नामाभिधानं विहितम् । स्कन्दपुराणकारेण सोमनाथतीर्थमाहात्म्यं वर्णयित्वा वस्तुतस्तु स्थानस्यास्य खागोलिको महिमैव पुरस्कृतः ॥

३

स्कन्दपुराणस्य पञ्चमे भागेऽष्टनवतितमेऽध्याये प्रभासतीर्थमाहात्म्यवर्णनं वर्तते । तत्र चर्षिर्मार्कण्डेयो दुःखसंतप्तं युधिष्ठिरं प्रभासतीर्थयात्रार्थं प्रचोदयति । तद्यथा –

ततो गच्छेत्तु राजेन्द्र प्रभासेश्वरमुत्तमम् ।
विख्यातं त्रिषु लोकेषु स्वर्गसोपानमुत्तमम् ॥ 98. 1

युधिष्ठिरोऽपि ज्ञातुमिदमभिलषति यत् प्रभासं नाम तीर्थं कथमेतादृशं महाफलदायि सञ्जातम् । तदर्षिर्मार्कण्डेयो निवेदयति –

दुर्भगा रविपत्नी च प्रभा नामेति विश्रुता ।
तया चाऽऽराधितः शम्भुरुग्रेण तपसा पुरा ॥

वायुभक्षा स्थिता वर्षं, वर्षं ध्यानपरायणा ।
ततस्तुष्टो महादेवः प्रभायाः पाण्डुनन्दन ॥ 98.4।

सन्तुष्टः सन्नीश्वरो भणति–

कस्मात्संक्लिश्यसे बाले, कथ्यतां यद्विवक्षितम् ।
अहं हि भास्करोऽप्येको नानात्वं नैव विद्यते ॥ 98.5

अत्र प्रभा स्वकीयदुःखकारणमित्थं प्रकाशयति–

नान्यो देवः स्त्रियः शम्भो, विना भर्त्रा क्वचित्प्रभो ।
सगुणो निर्गुणो वापि धनाढ्यो वाऽप्यकिञ्चन ॥ 98. 6

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः स्त्रीणां भर्तैव दैवतम् ।
दुर्भगत्वेन दग्धाहं सखीमध्ये सुरेश्वर ॥ 98. 7 ॥
भर्तर्यल्लब्धसौख्याऽस्मि तेन क्लिश्याम्यहं भृशम् ।

– इदानीमीश्वरः प्रसन्नौ भूत्वा तस्यै प्रददात्याशिषम् "वल्लभा भास्करस्यैव मत्प्रसादाद्भविष्यसि" (98.8) इति । महादेवेनाहूतो भानुर्नर्मदोत्तररोधसि समागतः । स चेश्वरेणादिष्टो यद्–"प्रभां पालय भो भानो ! सन्तोषेण परेण हि" (98.12) ॥ अन्यच्चोमयाऽपि भानुर्विज्ञापितो यत् –

प्रभाया मन्दिरे नित्यं स्थीयतां हिमनाशन
अग्रपत्नी समस्तानां भार्याणां क्रियतां रवे ॥ 98.13 ॥

भगवता सूर्येणापि तयोराज्ञाद्वयं शिरसि निधाय, प्रभा परिपाल्यते । महेश्वरोऽपि प्रभया विज्ञापितो यत् –

स्वांशेन स्थीयतां देव मन्मथारे उमापते ।
एकांशः स्थाप्यतामत्र तीर्थस्योन्मीलनाय च ॥ 98.15

प्रभायास्तादृशीं विज्ञप्तिं श्रुत्वा शङ्करेण सर्वदेवात्मकं स्वकीयं ज्योतिर्मयं लिङ्गं तत्र प्रतिष्ठापितम् । प्रभासेशेति नाम्ना च तत्स्थानं प्रसिद्धिमगमत् । युधिष्ठिराय निवेदयति मार्कण्डेयो यद् अन्यानि तीर्थानि तु कालान्तरे फलदायीनि भवन्ति; परन्त्विदं प्रभासेशमिति नाम तीर्थं तु सद्य एव फलप्रदानाय प्रभवति ॥

स्कन्दपुराणस्यैतादृशीं प्रभासतीर्थमाहात्म्यपरिपूर्णां कथां ज्ञात्वाऽऽधुनिकेन भूगोलशास्त्रीयेण तर्केण विचार्यते – भगवतः सोमनाथस्य शङ्करस्य ज्योतिर्लिङ्गमद्य यत्र वरीवर्तते, तन्नगरस्य नाम प्रभासपत्तनमिति विश्रुतम् । भारतवर्षस्य दक्षिणपश्चिमसमुद्रवेलाया उपरि प्रतिष्ठितात् तस्मात् प्रभासपत्तनाद् आरभ्य दक्षिणध्रुवपर्यन्त समुद्रो विलसतितमाम् । दक्षिणध्रुवश्च हिमाच्छादित एवास्ते । तत्र सूर्यस्य हिमनाशकस्य रश्यमः कदाचिन् मनागेव स्पृशन्ति । इत्थं सूर्यस्य प्रभा नाम्नी पत्नी भर्तृसौख्याद् वञ्चिताऽऽस्त इति वक्तुं पार्यते । अतः पुराण-कारेणोद्भाविता पतिसुखविधुरायाः प्रभायाः कथा भौगोलिकदृष्ट्या तु सत्यमेव प्रतिभाति । पूर्वस्यां दिशि कोर्णाकनगरे यदेकं सूर्यमन्दिरं, तच्च पूर्वसमुद्रतटे तिष्ठति । तस्माद् उद्गच्छन् सूर्यः, सायंकाले प्रभासेशनगरतः पश्चिमसमुद्रेऽस्तं गच्छति । अर्थात् प्रभासपत्तने सूर्यस्य रश्मिर्भारतवर्षस्यान्तिमं भूभागं स्पृष्ट्वा

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

विलयमेति । इत्थं पृथिव्यां सप्ततितमे रेखांशे वर्तमानं सोमनाथेति ज्योतिर्लिङ्गं प्रभासपत्तनञ्च भारतवर्षस्य दक्षिणपश्चिमसमुद्रतटस्यैतादृशे स्थानविशेषे स्तः, यतः प्रसृत्य सूर्यरश्मयो दक्षिणध्रुवपर्यन्तं क्वापि भूभागं स्प्रष्टुं न पारयन्ति । यतो ह्यासोमनाथाद् आप्रभासपत्तनाद् अकूपारः समुद्र एवास्ते । सूर्यस्यान्तिमा प्रभा प्रभासपत्तन एव प्रकाशति । अतः प्रभासपत्तने प्रभया सह सूर्य एकांशेन निवसतीति यद् भणति स्कन्दपुराणकारस्तत्तु भौगोलिकं सत्यमेव । एतत्सूक्ष्मेक्षिकया ज्ञात्वैव, भारतीयार्यजनैर्भगवन्तं शङ्करं सूर्यञ्चाभिन्नमेव मत्वा यस्मिन् स्थाने तयोः प्रतिष्ठा कृता, तस्य च नामाभिधानं प्रभासेशेति प्रभासपत्तनेति वा यत् कृतं तदन्वर्थमेव ॥ इत्थं तीर्थमाहात्म्यवर्णनमिषेण पुराणकारः कदाचित् खागोलिकं भौगोलिकं वा यद्रहस्यजातं स्यात् तद् हिरण्मयेन पात्रेण संगोपयति संरक्षति च ॥

—x—

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

20

मत्स्यपुराणे दृश्यमानानि निर्वचनानि

१

पुराणेष्वेको मुख्यः प्रवक्ता भवत्यपरश्च श्रोता भवति । कथायाः संग्रथने पुराणानां विविधाः विषयास्तद्यथा

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वतराणि च ।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

इत्येते यादृच्छिकेन क्रमेण समुपस्थाप्यन्ते, पुनरुक्तिश्च कदाचित्तत्र भवत्येव । द्वयोः पुरुषयोः संवादमध्येऽन्येषामपि संवादान्तरम् उदिध्रयते, येन च प्रधानीभूतायां कथायां कथान्तराणि प्रविशन्ति । तद्यथा – मत्स्यपुराणे कृष्णद्वैपायनस्य (अर्थात् सत्यवत्याः पुत्रस्य वेदव्यासस्य) शिष्याय सूताय । (अर्थात् सूतकुलोत्पन्नाय लोमहर्षणाय) नैमिषारण्यस्य शौनकादयो मुनयः पुराणकथां श्रावयितुं प्रार्थनां निवेदयन्ति । अतो मत्स्यरूपावतारे वर्तमानस्य विष्णोर्मनोश्च मध्ये यः संवादः सञ्जात आसीत्, तं संवादं सः सूतो निरूपयति । ऋषिभिरत्र प्रष्टव्यानां प्रश्नानां प्रत्युत्तरं प्रदातुं शिवपार्वत्योः संवादोऽपि संगृहीतो दृश्यते । इत्थं, पुराणेषु सर्वत्र कथायाः संग्रथने मुख्येषु संवादेषु संवादान्तराणि स्युरिति वर्णनशैली दरीदृश्यते ॥

२

एतादृशेषु संवादेषु बहुशः शब्दानां निर्वचनं प्रदश्र्य, तेषां शब्दानां पश्चाद्भूमिकायां गुप्तं विलुप्तं वेतिहासं चान्विष्यत इति मत्स्यपुराणे वारंवारं

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

दृग्गोचरीभवति । यद्यपि प्रवृत्तिरियं ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो यास्कस्य च निरुक्ततः समारब्धेति सुविदितम् । यास्कीयनिर्वचने तु नैकेषु स्थलेषु तात्कालिकं समाजजीवनं कीदृशम् आसीदिति विचार्यते । तद्यथा - कन्या, क्वेयं नेतव्येति (निरुक्तम्-4), सर्वत्र कन्याया विवाहकाले पितृभिरिदं चिन्त्यते यद् कस्मै कुलीनाय विद्यावते कन्येयं प्रदेया । सार्वकालिकोऽयं प्रश्नः प्राथम्येन यास्कीयनिर्वचने सम्यक्तया श्रुतिपथमायाति । एवमेव मत्स्यपुराणेऽपि समाजजीवनमितिहासं वान्वेष्टुं निर्वचनस्य जिज्ञासा प्रस्तूयते । अथवा कुत्रचित् कस्याश्चित् कथायाः प्रमाणमुद्घोषणाय निर्वचनानि प्रदीयन्ते । तद्यथा - मत्स्यपुराणस्यारम्भ एव नैमिषारण्यस्य मुनयः सूताय पृच्छन्ति स्म यद् -

कथं ससर्ज भगवान् लोकनाथश्चराचरम् ।
कस्माच्च भगवान् विष्णुर्मत्स्यरूपत्वमाश्रितः ॥
भैरवत्वं भवस्यापि पुरारित्वञ्च गद्यते ।
कस्य हेतोः कपालित्वं जगाम वृषभध्वजः ॥ (म.पु. 1-8, 9)

अर्थात् - भगवता लोकनाथेन चराचरात्मिका सृष्टिः कथं सृष्टा । विष्णुना च किमर्थं मत्स्यरूपत्वं समाश्रितम् । प्रभुः शङ्करः कदा भैरव इति, पुराररिति च नामभ्यां विख्यातः समभवत् । यद्वा वृषभध्वजोऽयं शङ्करः कदा कपालित्वं जगामेति प्रश्नैः नामकरणस्येतिहासस्य जिज्ञासा मत्स्यपुराणस्यारम्भे पुरस्कृता दृश्यते । इत्थञ्च कथासंग्रथनायैवात्र बहुशो निर्वचनानां प्रयोगः क्रियते ॥

३

मत्स्यपुराणस्य द्वितीयेऽध्याये मत्स्यरूपधारिणा प्रभविष्णुना विष्णुना यत्सृष्टिप्रकरणं समारब्धं तत्रैव कानिचित् निर्वचनानि समुपलभ्यन्ते । तद्यथा -

यः शरीरादभिध्याय सिसृक्षुर्विविधं जगत् ।
नारायण इति ख्यातः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ (म.पु. 2-27)

अर्थात् प्रलयकालादनन्तरं तमोव्याप्तं जगदासीत् तत्र च प्रादुर्भूतः स्वयं भूमा । तैश्च सिसृक्षया स्वकीयाच्छरीरात् विविधं जगत् समुत्पादितम् । आपो नारा अयनं गमनं यस्य स नारायण इति प्रोक्तः । अर्थतो भगवता नारायणेन प्रथमं जलमुत्पाद्य तस्मिंश्च बीजमाहितम् । तद्बीजमेव हिरण्मयात्मकमण्डं सम्भूतम् । सूर्यप्रकाशात्मकेऽण्डेऽस्मिन् स्वयंभूः प्राविशद् एवञ्च स्वकीयेन प्रभावेण तस्य

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

विष्णुत्वं समापतत् ।

प्रविश्यान्तर्महातेजाः स्वयमेवात्मसंभवः ।
प्रभावादपि तत्व्याप्त्या विष्णुत्वमगमत्पुनः ॥ (म. पु. 2-30)

तस्माच्चाऽण्डात् सूर्यः समभवत् । सूर्योऽयं सर्वेषामादिभूतत्त्वाद् 'आदित्य' इत्युच्यते । ब्रह्मणः (वेदस्य) पठनात् ब्रह्मा ब्रह्माऽभवद् इति निरुक्तिर्वक्ति । यथा -

तदन्तर्भगवानेष सूर्यः समभवत् पुरा ।
आदित्यश्चादिभूतत्त्वात्, ब्रह्मा ब्रह्म पठन्नभूत् ॥ (म. पु. 2-31)

अत्र हिरण्मयात्मकेऽण्डे प्रविष्टत्वात् व्यापनशीलत्वाच्च स्वयंभूः परमात्मा विष्णुत्वेन समाख्यात इति ज्ञायते । एवञ्च प्रसङ्गतस्तदप्यभिव्यज्यते यद् मनोर्हस्ते निपतितो मत्स्योऽयं विष्णोरेवावतारः । तथा हि - पितृतर्पणकार्ये निमग्नस्य मनोर्हस्ताञ्जलौ यो मत्स्यो गगनान् निपतितः स यत्र यत्र मणिकायां , कूपे, सरसि, गङ्गायां समुद्रे वा संस्थाप्यते तत्र तत्र स तादृशीं शरीरवृद्धिं प्राकटयत् । इदमेव व्यापंनशीलत्वं दृष्ट्वा मनोर्मनसीदं ज्ञानं समुद्भूतं यद् नायं सामान्यो मत्स्यः, किन्त्वसुरेतरः कोऽपि देवविशेषः स्यात्, स च वासुदेवो विष्णुरेवायमिति । मत्स्यस्तु चांचल्यपूर्णो जन्तुस्तथा च तस्य जलाशये सार्वभौमिकं प्रवर्तनं दृष्ट्वैव व्यापनशीलत्वेन विष्णुत्वेनाभिज्ञा प्रतिजानीते मनुः ।.

४

मत्स्यरूपावतारे स्थितो विष्णुः जगदुत्पत्तिं निरूपयन् त्रिगुणात्मकं प्रपञ्चं वर्णयति । तत्र सांख्यदर्शनस्य प्रामाण्यं साधयितुं निर्वचनं पुरस्क्रियते । तद्यथा-

श्रयन्ति यस्मात्तन्मात्राः शरीरं तेन संस्मृतम् ।
शरीरयोगाज्जीवोऽपि शरीरी गद्यते बुधैः ॥ (म. पु. 3-22)

यतः पञ्च महाभूतानि प्रादुर्भवन्ति तासां तन्मात्राणां यद् आश्रयभूतं स्थानं तच्छरीरमिति कथ्यते । अर्थात् - 'श्रिञ् सेवायामि'ति धातोः शरीरमिति शब्दस्य निरुक्तिः प्रदर्श्यते । आत्मनः कृते आधारस्थानरूपेण शरीरस्य योगाज् ज्ञानिनो जीवात्मानमपि शरीरिन्निति वदन्ति । यद्यपि निरुक्ते तु 'शरीरं शृणातेः, शम्नातेर्वा (अध्याय:2) इति यास्केन भणितम्; परन्तु मत्स्यपुराणेऽस्मिन् शरीरमिति शब्दस्य - श्रिञ् सेवायामिति धातोः निर्वचनं प्रस्तुतम् । अत्र व्याकरणशास्त्रीया सम्मतिः

Vasant Bhatt Collection, Gujarat .

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

स्यान्न वेति विचार्यमाणे भूयसा तमसा परिवृत्ताः स्याम । किन्तु पुराणकारस्तु स्वकीयं सांख्यदर्शन प्रमाणीकर्तुमेतादृशानि निर्वचनानि पुरस्करोति ॥

५

ऋषिणा कश्यपेनादिति-दिति-दनुषु नैके पुत्राः समुत्पादिताः । अस्य वर्णनावसरे मत्स्यपुराणे मरुतामपि जन्मादिकमित्थं निरूपितम् । सामान्यतस्तु दितेः पुत्रा दैत्या इति पदवाच्याः सन्ति । परन्तु सत्स्वपि दितिपुत्रेषु तेषु मरुत्सु, मरुदिति संज्ञा कथं प्रयुज्यत इत्यस्य कथा तु श्रूयताम् । देवासुरसंग्रामे दैत्यानां विनाशोऽजायत । ततश्च दित्या मदनद्वादशीनामकं व्रतम् अनुष्ठितम् । तेन चेन्द्रस्य वधाय यः समर्थः स्यात् तादृशस्य पुत्रस्योत्पादनाय सा दितिः समुद्यता । अस्मिन् प्रसंगे देवपतिनेन्द्रेणाशौचमभिलक्ष्य दितेर्गर्भः सप्त शकलेषु विभक्तः । ते च सर्वे शकलाः सप्त कुमाराः समभवन् । एवञ्च वेताला इव रोदितुमारभन्त । अत इन्द्रेण पुनस्तेषामपि संसाधिता एकोनपञ्चाशत् शकलाः । तेऽपि सर्वे पुत्रत्वेन प्रादुर्भूताः रोदितुञ्च प्रवृत्ताः । तस्मिन् क्षणेऽय'मिन्द्रो निवारयामास मा रोदीष्ट पुनः पुनः' (म.पु. 7-57) इति ॥ तदनन्तरम् इन्द्रेण ज्ञातं यदेतत्तु विष्णोः मदनद्वादशीव्रतस्य फलम्, अतस्ते पुनः पुनः प्रादुर्भवन्ति । इन्द्रस्त्वेतान् सर्वान् पुत्रान् देवकोटिं समारोप्य, तान् मरुतः देववल्लभत्वेन स्थापितवान् । अत्र कथामुपसंहरन् पुराणकारः कथयति यद् -

यस्मान् 'मा रुदते'त्युक्ता रुदन्तो गर्भसंस्थिताः ।
मरुतो नाम ते नाम्ना भवन्तु मखभागिनः ॥ (म.पु. 7-62)

श्लोकेऽस्मिन् स्पष्टीक्रियते यन् 'मा रुदत' इति देवेन्द्रवचनात् दितेरिमे पुत्राः 'मरुद्' इति नामाभिधेयाः स्मृताः ।

६

नैमिषारण्यस्यर्षयः सूताय पृच्छन्ति यद् -

बहुभिर्धरणी भुक्ता भूपालैः श्रूयते पुरा ।
पार्थिवाः पृथिवीयोगात् 'पृथिवी' कस्य योगतः ॥

किमर्थञ्च कृता संज्ञा भूमेः किं परिभाषिणी ।
गौरितीयञ्च विख्याता सूत कस्माद् ब्रवीहि नः ॥ (म.पु. 10-1, 2)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

एतेषु श्लोकेषु कथितं यद् – पृथिव्याः भोक्तारः राजानः पार्थिवा उच्यन्ते। किन्तु सा धरणी धरित्री कस्मात्कारणात् 'पृथिवी' इति पदवाच्या समभवदिति मुख्या जिज्ञासा। एवञ्च सैव पृथिवी धेन्वा सह गौरिति पदेनोपमीयते तदपि ज्ञातुकामा ऋषयः सन्ति। इत्थं पृथिवीति, गौरिति च पदयोर्निर्वचनं प्रदर्शयितुं नृपस्य पृथोः जन्मकथा, पृथिवीदोहनस्योपाख्यानादिकं च प्रस्तूयेते मत्स्यपुराणेऽस्मिन्। तद्यथा – सूतः कथयति यद् वेन इति नामकोऽधार्मिको राजा पृथिवीं शास्ति स्म, ब्राह्मणवर्यैश्च तस्याधर्माचरणं नानुमतम्, शापेन च तं वेनं घ्नन्ति स्म।

परन्तु राज्यं नामाराजकं मा भूदिति विचिन्त्य, ते च ब्राह्मणाः तस्य वेनस्य शरीरं मथितवन्तः। पृथुप्रयत्नैः शरीरमंथनं कृत्वा, तैर्वेनस्य शरीरादेको दिव्यः पुरुषः सम्प्राप्तः। पुरुषोऽयं पृथुप्रयत्नैरासादितः, तेन स 'पृथु' इति नाम्ना प्रोक्तः ब्राह्मणैरभिषिक्तश्च स राजसिंहासने।

पृथोरेवाभवद् यत्नात् ततः पृथुरजायत।
स विप्रैरभिषिक्तोऽपि तपः कृत्वा सुदारुणम्॥ (म.पु. 10-10)

राजा पृथुना दृष्टं यद् भूतले वेदाध्ययनं न प्रवर्तते, यज्ञादिकाः क्रियाकलापाः उपसंहृताः सर्वत्र चाधर्मस्य प्रभावो दुःखोत्पादकः। अतः स पृथुः धरित्रीं दाहयितुं संकल्पितवान् तदा धरित्री गोरूपमाश्रित्य पलायते स्म। –

दुग्धुमेवोद्यतः कोपाच्छरेणामितविक्रमः।
ततो गोरूपमास्थाय भूः पलायितुमुद्यता॥ (म.पु. 10-12)

पृथुस्तां गोरूपां धरित्रीमन्वधावत् धरित्रीञ्चोक्तवान् – जङ्गमात्मकाय जगते त्वमभीप्सितान् पदार्थान् प्रयच्छस्वेति। धरित्र्या च सा प्रार्थनोररीकृता। अतः पृथुना सा गोरूपधारिणी धरित्री यथेच्छं दुग्धा। अनेन च दोहनेनान्नादिकं सम्प्राप्तं दारिद्र्यञ्च विनष्टम्। धर्मस्याप्यभ्युदयः सञ्जातः। कथामेतामुपसंहरन् पुराणकारो निवेदयति यद् –

दुहितृत्वं गता यस्मात्पृथौ धर्मवतो मही।
तदानुरागयोगाच्च पृथिवी विश्रुता बुधैः॥ (म.पु. 10-35)

अत्र धर्मप्राणाय पृथवे नृपाय, गोरूपधारिणी धरित्री दुहितृत्वं गता अर्थात् दोहनयोग्या सम्बभूव। सा धरित्री गोरूपमाश्रित्य पृथोः पलायिताऽतः गौरिति विख्याता; पृथोश्च; पुत्रीस्वरूपा संपन्नेति 'पृथिवी' पदेनाभिज्ञाता। इत्थं पुराणकारोऽयं

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

पृथिवीत्यादिकानां नामकरणानां पश्चाद् वर्तमानमितिहासं निर्वचनद्वारेण समुद्घाटयति ।

७

मत्स्यपुराणे वाराणसीमाहात्म्यमपि वर्णितम् । अत्र देवी पार्वती शङ्करं प्रार्थयति यदियं वाराणसी कथमविमुक्तक्षेत्ररूपेण विज्ञायते तच्छ्रावयत्विति । अत्र शङ्करो वाराणस्याः महिमानं गायति । तद्यथा - इदं क्षेत्रं मोक्षदायकमस्ति, शिवलोकं जिगमिषवोऽत्रागत्य निवसन्तीति । ततः कथमिदं क्षेत्रमविमुक्तमित्युच्यत इति सविस्तरं निरूपयति ।

(क) विमुक्तं न मया यस्मान्मोक्ष्यते वा कदाचन ।
महत् क्षेत्रमिदं तस्माद् अविमुक्तमिदं स्मृतम् ॥
(म.पु. 180-55)

अर्थतो भगवता शङ्करेणेदं क्षेत्रं यथा भूतकाले न कदाचिद् विमुक्तं, तथैव भविष्यति कालेऽपि स तन्नैव त्यक्ष्यति । अत स पुनरपि प्रतिजानीते यद् -

यत्र सन्निहितो नित्यमविमुक्ते निरन्तरम् ।
तत्क्षेत्रं न मया मुक्तमविमुक्तं ततः स्मृतम् ॥ (म.पु. 181-15)

अत्रापि शङ्करो भणति यत् - क्षेत्रेऽस्मिन् नित्यं वसामि, मया कदापीदं न मुच्यते, अत इदं क्षेत्रमविमुक्तमित्युद्घोष्यते ।

(ख) वाराणसीति नाम्नः क्षेत्रस्य महिमानं वर्णयितुम् अन्यदपि निर्वचनं प्रस्तूयते । यथा -

विघ्नैश्चालोड्यमानोऽपि योऽविमुक्तं न मुञ्चति ।
स मुञ्चति जरामृत्युं जन्म चैतदशाश्वतम् ॥ (म.पु. 182-27)

कश्चिन् मनुष्यः वाराणस्यां निवसन् सन्नैव कदाचिद् दुःखदारिद्र्यैः पीडितः स्यात्, तथापि यदीदं क्षेत्रं न मुञ्चति तन्नैव च निवसितुं बद्धपरिकरो भवति, तदा स इदमशाश्वतं जन्मादिकं सर्वथा मुञ्चतीत्यत्र नास्ति कोऽपि संदेहावकाशः । अतः कदाचित्कथमपि यन्नैव मोक्तुमर्हति, तत्क्षेत्रमविमुक्तपदेन वाच्यमिति तात्पर्यार्थः ।

(ग) पार्वती पुनरपि शङ्करं पृच्छति यद् ब्रह्माण्डेऽस्मिन् हिमालयो, मेरुर्गन्धमादनः पर्वतः नन्दनवनादयश्च नैके निवासयोग्याः प्रदेशाः सन्ति, तान् सर्वान् विहाय भवद्भिर्वाराणस्याम् अर्थात् अविमुक्तक्षेत्रे कथं स्थीयते । अस्मिन्

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अविमुक्तक्षेत्रे निवासस्य को हेतुस्तत्स्पष्टीक्रियताम् इति । भगवता शङ्करेणास्य गूढाशयं विशदीकर्तुमेका कथा निगदिता । तद्यथा – एकदा ब्रह्मणा परिहासेनोक्तं यदहं भवतामुत्पत्तिं जानामि । अतः शङ्करो ब्रह्मणः पञ्चमुखेभ्य एकं मुखं चिच्छेद । येन च ब्रह्मा चतुर्मुखः सञ्जातः । परन्तु क्रुद्धो ब्रह्मा शङ्करं शशाप यद् अनपराधिनः मम मस्तकं छित्वा ब्रह्महत्यात्मकं पापं समासादितवान् भवान् । अतः कपाली भूत्वा भूतले भ्रमतु ।

तस्माच्छापसमायुक्तः कपाली त्वं भविष्यसि ।
ब्रह्महत्याकुलो भूत्वा चर तीर्थानि भूतले ॥ (म.पु. 183-86)

इदानीं विचार्यते यत् कपालित्वं सम्प्राप्य शङ्करः कदा तस्माच्छापात् विनिर्मुक्तः । पुराणकारो वर्णयति यद् ब्रह्मणः कपालात् भीत इव शङ्करो नैकेषु स्थलेषु परिभ्रमति । परन्तु कपालस्तु तमीशानम् अनुधावत्येव । अन्ततो गत्वा, विष्णोः सूचनानुसारं स शम्भुर्यदा वाराणसीं नामाविमुक्तक्षेत्रं समायाति तदा तस्य कपालस्य सहस्रशकलेषु विशीर्णता भवति, ब्रह्मणः शापश्च विनिवर्तते । अस्मादपि कारणाद् इदमविमुक्तक्षेत्रं शङ्करो नैव प्रतिमुञ्चति । इत्थं शम्भोर्नित्यं वाराणस्यां निवासो जाजायते, प्रभोश्च विश्वनाथस्य मन्दिरस्य परिसरश्चाविमुक्तक्षेत्रमित्युच्यते । अत्र वाराणसी कस्माद् हेतोरविमुक्तक्षेत्रमिति जोघुष्यते तत् स्पष्टीकरणाय निर्वचनस्योपाय एवाङ्गीक्रियते ॥

८

मत्स्यपुराणे नर्मदा-माहात्म्यस्य वर्णनावसरे निर्वचनपद्धतिमनुसृत्यैव तीर्थादीनां नामानि विवृणोति पुराणकारोऽयम् । नर्मदायाः तटे महेश्वरतीर्थं वर्तते । यत्र च महादेवेन शङ्करेण त्रिपुरं हन्तुं स्वकीयादुत्तमाङ्गाद् अग्निः प्रज्वालितः । स च त्रिपुरं दग्धुं प्रवृत्तः । अतो बाणासुर ईश्वरं स्तौति विज्ञापयति च यद् क्षन्तव्यं क्षन्तव्यं पुरमेकम् । तेन त्रिपुरेभ्योऽवशिष्टमेकं पुरम् अद्यापि गगने परिभ्रमति । परन्त्वन्यत् पुरद्वयन्तु भूमौ निपातितम् । तस्मात् पुरद्वयादेकं यस्मिन्नमरकण्टके पर्वते पतितं तज्ज्वालेश्वरम् इति नाम्ना प्रसिद्धम् । पुराणकारो लिखति यद् –

एकं निपतितं तत्र श्रीशैले त्रिपुरान्तके ।
द्वितीयं पतितं तस्मिन् पर्वतेऽमरकण्टके ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

दग्धेषु तेषु राजेन्द्र ! रुद्रकोटि प्रतिष्ठिता ।
ज्वलत्तदपतत्तत्र तेन ज्वालेश्वरः स्मृतः ॥ (म.पु. 188-75, 76)

इत्थं ज्वालेश्वरम् इति शब्दस्य निर्वचनं प्रदाय नर्मदामाहात्म्यस्य वर्णनमुपसंह्रियते ॥

९

मत्स्यपुराणे कथाया उपक्रमोसंहारादिकादप्यधिकेष्वन्येषु च सन्दर्भेषु निर्वचनानि बहुशः दृष्टिपथमायान्ति । तद्यथा - (1) यं यं वृद्धं रुग्णं वा सो हस्तेन स्पृशति स्म, तं तं पुनरपि युवानं निरामयञ्चाकरोत् सः । अतः स शन्तनुर् इति उच्यते । (म.पु. 50-43). (2) राजधर्मस्य वर्णनावसरे दण्डनीतिमधिकृत्य दमनात् दण्ड इति स्मृत इत्युच्यते । (म.पु. 225-17) (3) एवमेव वराहावतारे शेषः, अच्युतो, हरिः, सनातनोऽनन्तो, नारायणो गोविन्दो हृषीकेशो वासुदेव (म.पु. 248-32 तः 49) इत्यादीनां शब्दानामपि मनोहारिणी निरुक्तिरपि विलसतितमाम् ॥

१०

मत्स्यपुराणे समुपलभ्यमानानि निर्वचनानि समीक्षितुं प्रथमं यास्कीयनिर्वचनैः सहैतानि तुलनामर्हन्ति । तत्तु सुविदितमास्ते यद् यास्केन 'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि' इति शाकटायनस्य सिद्धान्त उररीकृतः । सिद्धान्तमिममभिलक्ष्य स अग्निशब्दस्य निरुक्तिमित्थं पुरस्करोति । "अग्निः कस्मात् । अग्रणीर्भवति । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते । यद्वा न क्नोपयति (न स्नेहयति) इत्यग्निरिति ।" (अध्याय-7) अत्र सर्वेष्वपि निर्वचनेषु यास्केन णीञ् प्रापण इत्यादयो धातवः प्रदर्शिताः । परन्तु मत्स्यपुराणे यानि निर्वचनानि सन्ति तत्र नियमतो धातुप्रदर्शनं नास्ति । यतो हि - प्राचीने काले वेदवेदाङ्गेषु स्त्रीशूद्रादीनाम् अधिकारो नासीत् । अतः सर्वासु प्रजासु सृष्ट्यादिविषयकं ज्ञानं, धर्मोपदेशञ्च विस्तारयितुकामा ऋषयः पुराणेषु शब्दानां निर्वचनद्वारेण तेषां विषयाणां प्रामाण्यं प्रदर्शितवन्तः । इदं निर्वचनमपि प्रजायाः कृते श्रद्धास्पदं शब्दप्रमाणमासीत् । तादृशेषु निर्वचनेषु व्याकरणस्य निरुक्तस्य वा सम्मतिः स्यान्न वा, परन्तवेतानि निर्वचनानि आबालवृद्धानां हृदयावकाशं नूत्नैः प्रकाशैः द्योतयन्ति ॥

—x—

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

21

मार्कण्डेयपुराणस्थापाणिनीयप्रयोगाणां वाचोयुक्तिः* ॥

0.0. मार्कण्डेयपुराणे पठ्यमाने सति त्रिविधो विषयविभागो दृग्गोचरीभवति। तद्यथा –

(i) महाभारतस्य कथाया उद्भूताः केचन प्रश्नास्तेषाञ्च समाधानम् (अध्यायः 1–41) । तथा च

(ii) पुराणस्य लक्षणानुसारिणः विषयाः । तत्रास्ति सर्गप्रतिसर्गमन्वतरादीनां निरूपणम् (अ. 42–80; एवञ्च 93–136) अपि च

(iii) देवीमाहात्म्यञ्च । यत्र शुम्भनिशुम्भरक्तबीजादीनां राक्षसानां दुर्गाकृतो विनाशो वर्णितः । (अ० 81–93).

प्राध्यापकः पार्जीटरमहोदय एतादृशस्य विषयविभागस्य रचनानुक्रममित्थ-मनुमितवान् यत्र पुराणस्य लक्षणानुसारी सर्ग-प्रतिसर्गादीनां विषयो वर्ण्यते, द्वितीयोऽयं भागः प्राचीनतने काले रचितः स्यात् । तदनन्तरं मार्कण्डेयपुराण-स्यारम्भिको भागः संयोजितः स्यात् । तत्पश्चात् योऽन्तिमो भागो देवीमाहात्म्येन

Journal of the Oriental Institute, Vol. 41, Nos. 3-4, March-June, 1992 Issue, pp. 351-361, Vadodara.

* प्राच्यविद्या–मन्दिरम् (Oriental Institute, M.S. University of Baroda), वटपत्तनम् इत्यनेन शोधसंस्थानेन विष्णुपुराणम् – मार्कण्डेयपुराणञ्चाधिकृत्य समायोजिते राष्ट्रिये परिसंवादे (29-31 July, 1993) प्रस्तुतमिदं शोधपत्रम् ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

विराजते, सोऽपि प्रक्षिप्तो भवेदिति ।[१]

0.1 सांस्कृतिकदृष्ट्या मार्कण्डेयपुराणस्य समीक्षात्मकमध्ययनन्तु प्रबन्धरूपेण प्रकाशितं वर्तते ।[२] अतो मार्कण्डेयपुराणस्य भाषाशुद्धिमधिकृत्य काचिद् विवेचना भवितुमर्हति ।

शोधपत्रेऽस्मिन् – (क) व्याकरणानुसारी साध्वसाधुशब्दप्रयोगविषयको विचारः, (ख) कोशग्रन्थस्यानुमतिविषयको विचारो, (ग) वृत्तरचनाविषयको विचारश्च प्राधान्येन प्रस्तूयन्ते ।

1.0 मार्कण्डेयपुराणस्य[३] प्राथमिकेऽध्ययन एवेत्थं प्रतीयते यदत्र व्याकरणदृष्ट्याऽसाधुशब्दत्वेन व्यवह्रियमाणाः (क) कारकविभक्तिप्रयोगाः, (ख) उपपदविभक्तिप्रयोगाः, (ग) तिङन्तरूपाख्यानं, (घ) सुबन्तरूपाख्यानम्, (ङ) असमर्थसमासानां प्रयोगाश्च प्रायः सर्वत्र विलसन्तितमाम् । (च) एवमेव कुत्रचित् प्राकृतभाषातः संस्कृतभाषायां संगृहीता देश्यशब्दा अपि प्रयुज्यन्ते । (छ) तथा च वृत्तरचनाविषये 'पादान्तं वाक्यम्' इति कविपरम्परायां प्रायः स्वीकृतो नियमोऽस्मिन् पुराणे भूयो भूयस्तिरस्कृतः ।

1.1. मार्कण्डेयपुराणस्य केचन श्लोकाः समीक्ष्यन्ते ।

(क) 1. **नमस्कृत्य सुरेशाय** विष्णवे प्रभविष्णवे ।
पुरुषायाप्रमेयाय शाश्वतायाव्ययाय च ॥ 4.36

---

1. There can be no doubt that only the third and fifth of these parts (cantos 45-81 and cantos 93-136) constituted the Purana in its original shape as Markandeya's Purana... The first and second parts (cantos 1-9 and cantos (10-44) were composed afterwards and then prefixed to the Purana proper...

.. The Devi-mahatmya stands entirely by itself as a later interpolation.

See: The introduction to the Markandeya-Purana's English tranlation by Prof. F.E. Pargiter; Bibliotheca Indica; Calcutta, 1904 (pp. iii to xxii).

2. See Desai, N.Y.: Ancient Indian Society, religion, and mythology as depicted in the Markandeya-Purana (A Critical study) Pub. M.S. Univerisity of Baroda, 1968.

3. शर्मा, राजेन्द्रनाथ, सम्पादक :- श्री मार्कण्डेयमहापुराणम् । (खेमराज श्रीकृष्णदासेन सम्पादितस्य, मुंबई श्रीवेंकटेश्वर स्टीम मुद्रणालयेन प्रकाशितस्य पुनर्मुद्रणम्); नाग पब्लीशर्स, दिल्ही, 1984 ।

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

2. **तस्मै हिरण्यगर्भाय** लोकतन्त्राय धीमते ।
प्रणम्य, सम्यग्वक्ष्यामि भूतवर्गमनुत्तमम् ॥ 42.29

3. रैवतान्तास्तु मनवः कथिता ये मया तव ।
स्वायम्भुवाश्रया ह्येते **स्वारोचिषमृते मनुम्** ॥ 72.76

अत्र नमस्कृत्येति, प्रणम्येति च ल्यबन्तरूपयोः कर्मकारकत्वेन सुरेशमिति, हिरण्यगर्भमिति च द्वितीयान्तं पदं भवितुमर्हति । एवम 'ऋत' इत्यव्ययस्य योगे 'मनोर्' इति पञ्चम्यन्तं पदं प्रयोक्तव्यम् ।

(ख) 4. कथं चण्डालदासत्वं **गमिष्ये** वित्तकामुकः । (8.90b)

5. पित्रर्थं मे **प्रयच्छस्वेत्युक्त्वा** यच्चाप्युपाहृतम् । (29.18b)

6. वयं भृत्या भवान्स्वामी **दृढमाज्ञापयस्व** माम् । (67.13b)

अत्रे ये धातवः लौकिके संस्कृते परम्परया परस्मैपदेष्वेव विनियुज्यन्ते तेषामात्मनेपदेषु विनियोगः कथमपि साधुतां नाधिरोहति ।

(ग) 7. तस्मिञ्ज्ञाते मृगत्वात्त्वं विमुक्ता **पतिनार्चिता** । (71.40a)

8. ततो भूयः क्षत्रजातिं प्राप्ता त्वं **पतिना** सह । । (112.21a)

अत्र पतिनेति सुबन्तं पदमप्यसाध्वेव । पाणिनिना 'पतिः समास एव' (पा. सू. 1-4-8), 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (पा.सू. 7-3-120) इति सूत्रानुशासनेन पतिशब्दः समास एव 'घि' सञ्ज्ञको भवति । अतः गणपतिनेति तृतीयान्तं पदं साधुतां भजति, किन्तु केवलः पतिशब्दोऽसमासरूपेण यदा विनियुज्यते तदा पत्येत्येव साधु रूपम् । पतिनेति तु रूपन्त्वसाध्वेव ।

(घ) 9. मासेन तव विप्रर्षे **प्रदास्ये** दक्षिणाधनम् । (7,43a)

10. हुतावशिष्टं **दद्याच्च** भाजनेषु **द्विजन्मनाम्** । (28,49a)

11. माता वात्सल्यमुत्सृज्य शापं **पुत्रे प्रयच्छति** । (74.31b)

12. एतत्सर्वं विस्तरशो **ममाऽऽख्यातुमिहार्हसि** । (1.17)

13. देह्याज्ञां नृत्यतामासां **तव याभिमतेति** वै ।
रम्भा वा कर्कशा वाथ उर्वश्यथ तिलोत्तमा ।
घृताची मेनका वापि **यत्र** वा भवतो **रुचिः** ॥ (1.32,33)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

14. श्रुत्वा चैषां नरेन्द्राणां चरितानि, महात्मनाम् ।
उत्पत्तयश्च, पुरुषः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ (98.5)

अत्र ✓दा (दाने) धातोः प्रयोगे दानग्रहीता सम्प्रदानकारकमुच्यते, तच्च चतुर्थीम् विभक्तिमपेक्षते। किन्तु प्रस्तुतेषूदाहरणेषु चतुर्थ्याः स्थाने षष्ठी सप्तमी वा प्रयुक्तेति दृश्यते। एवमेव ✓कथ धातोर्गौणे कर्मण्यपि चतुर्थी द्वितीया वा विभक्तिरेव भवितुमर्हति। परन्तु तत्रापि षष्ठ्याः प्रयोगः क्रियते। तथैव च 'अभिमता' 'रुचिः' इत्येतयोः शब्दयोर्योगे चतुर्थी विभक्तिरेव प्रयोक्तव्या। ✓मुञ्च (मोक्षणे) धातोः प्रयोगावसरेऽपादानकारकस्याभिव्यक्तिः पञ्चम्यां विभक्तौ स्यादिति व्याकरणस्य नियमः। परन्त्वत्र 'सर्वपापैः प्रमुच्यते' इत्यपलापः श्रूयते। एवञ्च 'प्रमुच्यत' इत्यत्र यदि भावकर्मणोः (यक्) (पा.सू. 1-3-13) इत्यनेन कर्मणि 'यक्' प्रत्ययः स्यात् तर्हि पुरुषशब्दात्प्रथमाऽपि न युक्तिसंगता।

(ङ) 15. जगामाथ स यत्रास्ते **भ्रातृहा तस्य** राक्षसः। (2.12)

अत्र 'भ्रातरं हन्तीति भ्रातृहा' इति समासो विधीयते। अत्र पदान्तरेण सह तस्यान्वितिः कीदृशी वर्तत इति विचार्यमाणे 'भ्रातरम्' इति पदस्य 'तस्य' इत्यनेन सहान्वयः प्रकल्पितः। किन्त्वत्र भ्रातरमिति सापेक्षस्य द्वितीयान्तस्य पदस्य ✓हन् धातुना सह समासो नैव भवितुमर्हति। 'सापेक्षमसमर्थं भवति' (व्याकरण-महाभाष्यम् 2-1-1 सूत्रभाष्यम्) इति प्रसिद्धेः।

1.2. मार्कण्डेयपुराणस्य नैकेषु श्लोकेषु देश्यशब्दाः प्राकृतानुकारिणो वा शब्दा अपि प्रयुक्ताः सन्ति। तद्यथा- (1) लगुडी (8.125, 172), (2) कर्पट (8.127), (3) छुच्छुन्दरी (15.30), (4) भुशुण्डी (78.61), इत्यादयः।

1.3 अनुष्टुप्छन्दसि यदा श्लोकाः प्रणीयन्ते तदाऽष्टाक्षरपादस्य संसिद्ध्यै सन्धेरभावोऽप्युररीक्रियतेऽस्मिन् पुराणे। तद्यथा –

16. हा वत्स कस्य **पापस्य अपध्यानादिदं** महत्। 8.187

17. ततः कालेन **महता ऐकान्तिकमुपगतः**। 10.40

18. तथैकादशमासांस्तु **औरभ्रं** पितृतृप्तिदम्। 29. 6

किन्तु रामायणमहाभारतयोरपि श्लोकेष्वष्टाक्षराणां परिपूर्त्यै द्वयोः पादयोर्मध्ये सन्धेरभावः स्वीक्रियत एव। तद्यथा –

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता 2.50)

योऽयं पादयोर्मध्ये सन्धेरभावः स आर्षप्रयोगत्वेन सर्वैः स्वीकृतः । अत्र मार्कण्डेयपुराणस्योपर्युक्तान्युदाहरणान्यपि तयैव रीत्या संग्रथितानि । अतः व्याकरणदृष्ट्या दूषितानि तानीति कथयितुं नैव पार्यते । परन्तु यदा कुत्रचिद् एकस्मिन्नेव पादे यदि सन्धेरभावः सम्प्राप्यते, तद्यथा –

19. पितृदेवमनुष्याणां यान्युक्तानि ऋणानि वै । 3.40

20. सा याचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति । 89.34

तदा तत्र व्याकरणदोषः समापतत्येवेति निर्विवादम् ॥

इत्थं मार्कण्डेयपुराणे दृश्यमानस्य भाषाप्रयोगस्य व्याकरणादिनियामकशास्त्रैः परीक्षा क्रियेत तदा तत्र बहूनि स्खलनानि दृग्गोचरीभवन्ति ॥

2.0. अत्रापाणिनीयप्रयोगाणां का वाचोयुक्तिः स्यादितीदानीं विचार्यते । विषयेऽस्मिन् श्रीमन्तो गुप्तावटंकिता आनन्दस्वरूपाः 'पुराणेष्वपाणिनीयप्रयोगा' इति स्वकीये शोधपत्रे[4] त्रीणि कारणान्युपस्थापितवन्तः । सूक्ष्मेक्षिकया वामनपुराणस्य मत्स्यपुराणस्य चाध्ययनं कृत्वा तैरित्थं प्रतिपादितं यत् केचनापाणिनीयप्रयोगा आर्षाः सन्ति, प्राकृतानुकारिणो वा भवन्ति, यद्वा छन्दोऽनुरोधजन्या वर्तन्ते । अतोऽस्माभिर्मार्कण्डेय-पुराणस्य येऽसाधवः प्रयोगाः प्राप्येरन् तेषामुद्भावकानि कानि कारणानि सन्तीत्यन्वेष्टव्यम् ।

2.1 यदीमेऽसाधवः प्रयोगा आर्षा भवेयुस्तदा तेऽखिलेऽस्मिन् पुराण एकरूपा एव भवितुमर्हन्ति । परन्तु पुराणेऽस्मिन्नपाणिनीयप्रयोगैः सह पाणिनीयप्रयोगा अपि संप्राप्यन्ते । तद्यथा –

21. जगतामुपकाराय तथापस्तव गोपते ।
आददानस्य यद्रूपं तीव्रं तस्मै नमाम्यहम् ॥ (100.19)

* * * * *

वार्युत्सर्गविनिष्पन्नमशेषं चौषधीगणम् ।
पाकाय तव यद्रूपं भास्करं तं नमाम्यहम् ॥ (100.22)

---

4. द्रष्टव्यम्: पुराणम् (Vol. IV, No.2) July, 1992 (pp. 277-297) इति ॥

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अत्र नमामीति सकर्मक तिङन्तं पदमास्ते । अतः कर्मणि द्वितीया विभक्तिरेव प्रयोक्तव्या । किन्तु महदाश्चर्यमिदं यद् (100.19) श्लोकेऽस्मिन् चतुर्थ्या विभक्तेर्विनियोगो दृश्यते ।

22. एवमस्तु महाराज आगमिष्याम्यहं पुनः ।
शापं तव प्रदास्यामि न चेदद्य प्रदास्यति ॥
इत्युक्त्वा प्रययौ विप्रो राजा चाचिन्तयत्तदा ।
कथमस्मै प्रदास्यामि दक्षिणा या प्रतिश्रुता ॥ (8.11.12)

अत्रापि सत्यपि ✓दा (दाने) इति धातोः प्रयोगे सम्प्रदानकारकस्याभि-व्यक्तिकरणाय षष्ठी विभक्तिर्विनियुक्ता । एवञ्चान्यत्र चतुर्थी विभक्तिरपि प्रयुक्ता ।

23. धिगमर्षं तथा मह्यमतिमानमभीरुताम् ।
यैराविष्टेन सुमहन्मया पापमिदं कृतम् ॥ (6.34)

अत्र पाणिनीयं व्याकरणमनुसृत्य 'धिग्' इति निपातस्य योगे द्वितीया विभक्तिः प्रयोक्तव्येति[5] नियमः परिपालनीयः । किन्तु पुराणकारोऽयमेकस्मिन्नेव वाक्ये द्वितीयां चतुर्थीञ्च प्रयुक्तवान् ।

24. अहमप्यत्र राजर्षे दीप्यमाने हुताशने ।
दुःखभारासहाद्यैव सह यास्यामि वै त्वया ॥
सह स्वर्गं च नरकं सहैवावां हि भुङ्क्ष्वहे ।
श्रुत्वा राजा तदोवाच एवमस्तु पतिव्रते ॥ (8.237, 238)

सहेति निपातस्य योगे तृतीया विभक्तिरेव प्रयोगार्हा भवतीति पाणिनीयमनुशासनम् ।[6] अतः (8.237 इत्यत्र) 'त्वया सह यास्यामि' इतिं साधु वाक्यमुच्यते । परन्तु (8.238 इत्यत्र) सहेत्यस्य योगे द्वितीया विभक्तिः प्रयुक्ता । एवञ्च तृतीयं वारं यदा सहेत्यव्ययं प्रयुज्यते तदा तस्य 'आवाम्' इति प्रथमान्तेन

---

5. उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥
– 545 उपान्वध्याङ्वसः । 1-4-45 इत्यत्र सिद्धान्तकौमुद्यामुद्धृतमिदं श्लोकवार्तिकम् ।

6. सहयुक्तेऽप्रधाने । 2-3-16.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

पदेन सहान्वयो भवति । एतादृशो विभक्तिप्रयोगस्तु केनापि व्याकरणतन्त्रेण नानुमान्यते। अत एतादृशेन मिश्रप्रयोगेण या भाषा संग्रथिता स्यात्, तस्याः स्वरूपमार्षस्तीति केनापि वक्तुं न शक्यते ।

2.2. प्राकृतभाषाया अभिभाषकत्वेन या संस्कृता भाषा विपरिवर्तते, तस्याः परिवर्तमानाया भाषाया इदं निकृष्टं रूपमस्तीति चेत्तर्हि तदपि नाङ्गीकार्यम् । यतो हि – प्राकृतभाषाया यद्यत्रानुकरणमभविष्यत् तह्यात्मनेपदीयानां क्रियापदानां स्थाने सर्वत्र परस्मैपदीयानि क्रियापदान्यत्राभविष्यन् । परन्तु महदाश्चर्यमिदं यद्रूढितो ये परस्मैपदीया धातवः सन्ति, तेषामत्रात्मनेपदीयैः प्रत्ययैर्विविधानि रूपाणि साध्यन्ते, प्रयुज्यन्ते च । तद्यथा –

कथयानं[7] (6.26), भवस्य (9.10), कथयस्व (8.84), वदिष्ये (8.196),[8] वदस्व (78.29), * प्रयच्छस्व (29.18), आज्ञापयस्व (67.13), इत्यादयः ।

मार्कण्डेयपुराण एतादृशानि रूपाणि भूयो भूयो दृष्ट्वा न कोऽपि सुज्ञो जन एते प्रयोगाः प्राकृतानुकारिणः सन्तीति मनुते स्वीकरिष्यति च ।

3.0. एवं स्थिते, मार्कण्डेयपुराणस्यापाणिनीयप्रयोगाणां किमपि तृतीयं

---

7. कथ वाक्यप्रबन्धे । चौरादिकोऽयं धातुः परस्मैपदीय इति माधवीयधातुवृत्तौ (पृ. 567) मैत्रयरक्षितविरचिते च धातुप्रदीपे (पृ. 147) निरूपितम् ।

8. सिद्धान्तकौमुद्यां ''1842 वद संदेशवचने । वादयति । स्वरितेत् । वदति । वदते'' इति यल्लिखितं तत्तु चुरादिगणे वर्तते । परन्तु भ्वादिगणे स्पष्टरूपेणेत्थं लिखितं वर्तते यद् ''अथ द्वौ परस्मैपदिनौ । 1009 वद व्यक्तायां वाचि । वदति ॥'' मैत्रेयरक्षितेनापि स्वकीये धातुप्रदीपे ''वद व्यक्तायां वाचि। 1017 वदति । (पृ. 75)'' इत्येव प्रदर्शितम् । एवञ्च माधवीयधातुवृत्तावपि 734 वेत्रादयस्त्रयोऽनुदात्ता उभयतो भाषा।' इति लिखित्वा ''वद व्यक्तायां वाचि।'' वदति ॥ वदिता । वदिष्यति। 'इति परस्मैपदीयानि रूपाणि प्रदर्शितानि। तथा च – 'अभिवादिदृशोरात्मनेपद उपसङ्ख्यानम्'' 'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वद इति तङ् । संप्रवदन्ते राजानः सम्भूयोच्चारयन्तीत्यर्थः ॥' इत्यादिवचनैरित्थं प्रतिपादितं यदर्थान्तरेष्वेव वदधातोरात्मनेपदीयेन तङ्प्रत्ययेन प्रयोगो भवति । अर्थात् 'व्यक्तायां वाचि' इत्यर्थे तु सः परस्मैपदीय एवेत्यलमतिविस्तरेण ॥ (माधवीया धातुवृत्तिः, सम्पादकः द्वारिकादासः शास्त्री, तारा पब्लीकेशन्स, वाराणसी, 1964; मैत्रेयरक्षितविरचितो धातुप्रदीप; सम्पादकः श्रीश्चन्द्रचक्रवर्ती, ढाका, 1919.)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

समाधानं गवेषणीयम् । यतो हि, कुत्रचिद् यदि विभक्तिनियमानां परिपालनं, कुत्रचिदपरिपालनम्, परस्मैपदीयानां धातूनामपि कुत्रचिदात्मनेपदेषु विनियोगश्च पौनःपुन्येन दृग्गोचरीस्यातां तर्हि पुराणस्यानुष्टुप्छन्दसः संरचनात्मिका शैली कीदृश्यास्त इति विवेक्तव्यम् ।

* * *

छन्दःशास्त्रीयेषु ग्रन्थेष्वनुष्टप्छन्दसो विवृतिरित्थं प्रदर्शिता । तद्यथा- विषमपादयोः पञ्चम-षष्ठ-सप्तमाक्षराणामानुक्रमिकतया 'लघु-गुरु-गुरु' इति वर्तनं स्यात् । एवञ्च समपादयोः पञ्चम-षष्ठ-सप्तमाक्षराणामानुक्रमिकतया लघु-गुरु-लघ्विति प्रवर्तनं भवेदिति ।[9]

1	2	3	4	5	6	7	8		1	2	3	4	5	6	7	8।
X	X	X	X	U	–	–	U	।	X	X	X	X	U	–	U	U
1	2	3	4	5	6	7	8		1	2	3	4	5	6	7	8,
X	X	X	X	U	–	–	U	।	X	X	X	X	U	–	U	U॥

अपि च, यदि कोऽपि रामायणमहाभारतयोः श्लोकरचनां परीक्षेत, तदाऽष्टाक्षराणां पादेषु प्रायो वाक्यपरिसमाप्तिरूपवाक्यस्य वा परिसमाप्तिर्भवतीति ज्ञायते । अर्थतस्तत्र पादान्तं वाक्यम् इति शैली श्लोकरचनासु विलसति । अतोऽस्मिन् पुराणे कीदृशी श्लोकरचनाशैली चङ्क्रम्यते तदधुना निवेद्यते ।

3.1 श्रीपार्जीटरमहाभागेन मार्कण्डेयपुराणस्य यः प्राचीनोंऽशः (अ. 93-136) गण्यते, तत्र पादान्तं वाक्यमिति पद्धत्या श्लोकरचना क्रियते । उदाहरणमुखेन शृण्वन्तु श्लोकद्वयमिदम् -

भुक्ता भोगास्त्वया सार्द्धं, ये मर्त्यैरतिदुर्लभाः ।
सम्यक् च पालिता, पृथ्वी, शौर्यं युद्धेष्वनुष्ठितम् ॥

मित्रैः सहेष्टैर्हसितं, विहृतं च वनान्तरे ।
किमन्यत्र कृतं भद्रे, पलितेभ्यो बिभेषि यत् ॥ (106.20, 21)

---

9. पञ्चमं लघु सर्वत्र, सप्तमं द्विचतुर्थयोः ।
गुरु षष्ठं च पादानां, शेषेष्वनियमो मतः ॥ - वृत्तरत्नाकरः (2-21)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

इत्थमनुष्टुप्छन्दसा सुष्ठुतया विरचित्ताः श्लोका दृश्यन्ते । किन्तु नास्त्येतादृशी स्थितिः सार्वत्रिकी । बहुशस्तु पदसमूहो दूरान्वितो दृश्यते; पादाद् ऊर्ध्वञ्च वाक्यं परिसमाप्यते ।

तद्यथा - 25,

(क) विविधेषु च संभूतान्वंशेषु द्विजसत्तमान् ।
कथाश्रवणबद्धोत्कानुपविष्टान्महत्सु च ॥

कृष्णाजिनोत्तरीयेषु कुशेषु च बृसीषु च ।
सूतं च तेषां मध्यस्थं कथयानं कथाः शुभाः ॥

पौराणिकीः सुरर्षीणामाद्यानां चरिताश्रयाः ।
दृष्ट्वा रामं द्विजाः सर्वे मधुपानारुणेक्षणम् ॥ (6.25-27)

(ख) ततः स विप्रो नृपतेर्वल्कलान्ते दृढं धनम् ।
बद्ध्वा, केशेष्वथादाय नृपपत्नीमकर्षयत् ॥ (8.57)

(ग) ततोऽतिपूरेण नृपः स नद्या प्रेरितस्तटम् ।
प्रार्थयन्नपि नावाप ह्रियमाणोऽतिवेगिना ॥ (71.10)

एभिरुदाहरणैः प्रतीयते यदस्य पुराणस्य श्लोका महता कष्टेनैव साध्यन्ते। अत एवाष्टाक्षरपादस्य परिपूर्त्यै व्याकरणशास्त्रीयनियमेषु सर्वत्र व्यभिचारः क्रियते। लघुगुर्वक्षराणाञ्च सम्मेलनाय परस्मैपदीयान् विस्मृत्यात्मनेपदीयाः प्रत्ययाः बहुशो विनियुज्यन्ते ।

3.2 सूक्ष्मेक्षिकयाऽवलोकनीयमिदं श्लोकद्वयम् ।

26. कृतोपनयनः सम्यग् ब्रह्मचारी गुरोर्गृहे ।
वसेत तत्र धर्मोऽस्य, कथ्यते तन्निबोध मे ॥ (25.11)

शुश्रूषुर्निरभीमानो, ब्रह्मचर्याश्रमं वुसेत् ।
उपावृत्तस्ततुस्तस्माद् गृहस्थाश्रमुकाम्युया ॥ (25.17)

लौकिकसंस्कृतभाषायां यः परस्मैपदीयो धातुरस्ति ✓वस् (निवासे) इति, तस्य कृतोपनयनः0 (25.11) इति श्लोकेऽस्मिन्नात्मनेपदीयेन प्रत्ययेन प्रयोगो दृश्यते । यद्यस्य परस्मैपदीयेन प्रत्ययेन विधिलिङि प्रयोगः क्रियेत, तर्ह्यष्टाक्षरपादेऽक्षरन्यूनता समापतेत् । 'शुश्रूषुर्निरभीमानो0 (25.17) इत्यत्र ✓वस्

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

धातोर्यद्यात्मनेपदीयेन प्रत्ययेन प्रयोगः स्यात् तदा तत्राक्षराधिक्यमुत्पद्येत । एवमेवास्मिन् श्लोके (25.17) पञ्चममक्षरं लघुरूपेण विन्यस्य, ''गुरु षष्ठं च पादानाम्'' इति शास्त्रवचनानुसारं षष्ठमक्षरं गुर्वेव भवितुमर्हति । 'अतोऽभिमान' इति शब्दे मात्राकृतं गौरवं सम्पादयितुम् 'अभीमान' इति विकृतं रूपमुद्भावितम् । अर्थात् वस्तुतः पुराणकारेणैव मूलतस्तादृशमशुद्धं रूपं प्रणीतम् ।[१०] बहुषु च पुराणेतिहासग्रन्थेष्वे-तादृशाः प्रयोगाः सन्तीति दृष्ट्वाऽऽधुनिकैः कोशकारैर् 'अभीमान' इति शब्दोऽपि सन्निविष्टस्तदप्यत्रोल्लेखनीयम् । किन्तु कोशकारैरेतादृशाः शब्दाः संगृहीता इति वचनेन न तेषां साधुत्वं प्रतिपाद्यते । केवलं तेषामार्षत्वं द्योत्यत इत्यलम् ।

27. विश्वामित्र उवाच -

चण्डालोऽयमनल्पं ते दातुं वित्तमुपस्थितः ।
कस्मान्न **दीयते मह्यमशेषा** यज्ञदक्षिणा ॥ (8.89)

यदि चण्डालवित्तं त्वमात्मविक्रयजं **मम** ।
न प्रदास्यसि कालेन, शप्स्यामि त्वामसंशयम् ॥ (8.91)

चण्डाल उवाच -

शतयोजनविस्तीर्णां नानाग्रामैरलंकृताम् ।
भूमिं रक्षामयीं कृत्वा **दास्येऽहं कौशिकं प्रति** ॥ (8.97)

अत्र हरिश्चन्द्रस्याख्यानतः केचन श्लोका उद्धृताः । सम्प्रदाने चतुर्थी (पा. सू. 2-3-13) इति नियमः 8.89 इत्यत्र चरितार्थः । किन्तु 8.91, 8.97 इत्यत्र तु चतुर्थ्याः स्थाने षष्ठी विभक्तिः प्रयुक्ता । एवञ्च 'प्रति' इत्यव्ययेन सहिता द्वितीया विभक्तिरपि विनियोजिता दृश्यते । इत्थं सम्प्रदानकारकस्य नैकविधं निरूपणं केवलमनुष्टुपछन्दसः पूर्वोक्तां मर्यादां परिपालियतुं वर्तते । तद्यथा - (8.91 इत्यत्र) प्रथमं पादत्रयं सम्मिल्य वाक्यमेकं सम्पद्यते । यद्यत्र द्वितीये पादे सम्प्रदाने चतुर्थी विभक्तिः प्रयोक्तव्येति चेत् 'मम' इत्यस्याः षठ्याः स्थाने 'मह्यम्' इति रूपम् अभविष्यत् ।

ततश्च समपादे 'लघु-गुरु-लघु' इत्यपेक्षितस्य वृत्तस्य परिवर्तनमप्य-भविष्यत् ॥ अपि च - शतयोजनविस्तीर्णाम्० (8.97) इत्यत्र 'कौशिकं प्रति'

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

इत्यप्यसाधुरेव । यद्यत्र 'कौशिकाये'ति चतुर्थी विभक्तिः प्रयुज्येत तदा चतुर्थे पादे न्यूनाक्षरता समापतेत् ॥

* * * *

मार्कण्डेयपुराणस्य ये केचन रचनाकाराः स्युः, परन्तु श्लोकरचनायां तेषामकौशलमेवासीदिति प्रकटीकरणायैकमपरमुदाहरणं प्रमाणरूपेणात्रोपस्थाप्यते–

28. सर्वे यास्मामहे भूप, यदि याति भवान् वनम् ।
ततोऽशेषक्रियाहानिः सर्वपृथ्वीनिवासिनाम् ॥ (106.30)

त्वं कुरुष्व तथा राजन्, यथा नो सीदते जगत् ।
यावज्जीवामहे वीर, स्वल्पकालमिमे वयम् ॥ (106.44)

मार्कण्डेयपुराणे दमस्यात्मजं राजवर्धनमधिकृत्यैका कथा सम्प्राप्यते, यस्याञ्च भास्करमाहात्म्यमपि वर्णितम् । प्रा. श्रीपार्जीटरमहाशयेनास्य पुराणस्य यः प्राचीनतमोंऽशो निर्णीतः (अ0 93–136) ततः शताधिके षष्ठेऽध्याय इमे श्लोकाः पठ्यन्ते ।

अत्राधोरेखाङ्कितानि त्रीणि तिङन्तपदानि पश्यन्तु भवन्तः । तत्र ✓या (गतौ), ✓सीद् (सदने), ✓जीव् (प्राणधारणे) इत्येते धातवो लौकिकभाषायां परस्मैपदेष्वेव प्रयुज्यन्ते । अनेन पुराणकारेण तु विषमपादयोः पञ्चममक्षरं षष्ठञ्चाक्षरं गुरुणी स्यातामिति चिन्तयित्वाऽऽत्मनेपदीयैः प्रत्ययैस्तयोः प्रयोगो विहितः । एवमेव समपादे सीदतीति क्रियापदमपि 'सीदत' इत्यात्मनेपदीये विपरिणमय्य प्रयुक्तमिति स्पष्टमेव ॥ ध्यानास्पदमिदं यत् पादस्यारम्भिकेऽक्षरचतुष्टये नैतानि क्रियापदानि प्रयुक्तानि । अपि तु यत्र लघु-गुर्वि-त्यादीनां मात्राणां नियमनं क्रियते, तत्रैतानि त्रीण्यप्यसाधूनि पदानि प्रयुक्तानि । अतः छन्दोऽनुरोधजन्या एते दोषा इति निःशङ्कम् ॥

29. मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्यम् (अ. 78.90) इति प्रक्षिप्तमास्त इति प्रसिद्धम् । प्रक्षिप्तोऽयमंशः काव्यतत्त्वेन सहृदयास्वाद्योऽस्ति । किन्तु तत्रापि वृत्तसंरक्षणाय व्याकरणशास्त्रीयनियमाः कुत्रचित् न समादृताः । तद्यथा –

(क) तथाऽस्माकं वरो दत्तो यथापत्सु स्मृताखिलाः । (82.5)

(ख) इति दत्त्वा तयोर्देवी यथाभिलषितं वरम् । (90.10)

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

अत्र चतुर्थ्याः स्थाने षष्ठी प्रयुक्ता ।

30. अन्यानि चोदाहरणानि -

(क) सैन्ये तत्र सुरारीणाम**भक्षयत** तद्बलम् । (84.8)

(ख) तत्रैव च **वधिष्यामि** दुर्गमाख्यं महासुरम् । (88.46)

अत्र 'वधिष्यामि' इति पदेऽपि 'हनिष्यामि' इति संशोधनमपेक्षते । एवञ्च साधुप्रयोगत्वेन 'अभक्षयद्' इति प्रयोक्तव्ये सति, तस्य स्थानेऽसाधुपदस्य सन्निवेशः क्रियते ।

31. सा याचितो च विज्ञानं, तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति । (89.34)

अत्रैकस्मिन्नेव पादेऽष्टाक्षरपादस्य परिपूर्त्यै सन्धेरभावोऽङ्गीकृतस्तदपि निर्विवादम् ॥

4.0. बहुषु विद्वद्गोष्ठिष्विदं विचार्यते - किमेतेऽपाणिनीयप्रयोगाः व्याकरणान्तरेण साधयितुं शक्यन्ते न वेति । अर्थात् किं चान्द्रव्याकरणं सिद्धहेमशब्दानुशासनमित्यादिभि-र्व्याकरणान्तरैः पुराणादीनामसाधुशब्दप्रयोगाः साधुत्वं प्राप्नुवन्ति न वेति । तर्ह्युच्यते - आम् , केचन प्रयोगाः साधुत्वमधिगच्छेयुरिति । तद्यथा - हेमचन्द्राचार्येण 'ऋते द्वितीया च' । (सि.हे.श. 2-2-114) इत्यनेन सूत्रेण 'ऋते' इत्यव्ययस्य योगे पञ्चमी वा द्वितीया वा प्रयोगार्हेति निवेद्यते । परन्त्वेदृशानि सूत्राणि सन्त्यल्पान्येव । तथा च परिवर्तमानायां भाषायां या नूतना अभिव्यक्तयः प्रादुर्भूतास्तेषां केवलं ग्रन्थस्थीकरणमिदमुच्यते । सन्दर्भेऽस्मिन् प्रा. श्रीसुरेशचन्द्र-काण्टावाला-महाशयानां (अस्मिन् परिसंवादे निवेदितं) सूचनं समादरणीयं प्रतिभाति । यथा च - सर्वेषु पुराणेष्वेतादृशं भाषापरिवर्तनं पर्यालोच्य विभिन्नेषु शतकेषु संस्कृतभाषायाः कीदृशं स्वरूपमासीदिति विवेक्तव्यम् ।

परन्त्वस्माभिर्ये प्रयोगा अपाणिनीयाः सन्तीति निरूपितं, तेषां सर्वेषां व्याकरणान्तरेण साधुत्वं प्रतिपाद्यत इति विचारो नाङ्गीक्रियते । यतो हि - "उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः" (परमलघुमञ्जूषा, शक्तिनिरूपण-प्रकरणम्) इति सिद्धान्तानुसारं तन्त्रव्यवस्थायां वैविध्यं सोढव्यम् । अर्थात् उपेयस्वरूपाणां 'रामेण'- 'रामस्ये'-त्यादीनां रूपाणां संसिद्ध्यै यद् उपायान्तरं प्रस्तूयते तन्त्रान्तरेण, तत्सह्यम्, स्वीकार्यञ्च भवति । परन्तूपेयस्वरूपाणि 'रामेण'

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

'रामस्ये' त्यादीनि शब्दस्वरूपाणि परिवर्तनं नैव सहन्ते, विकृतार्थप्रतीतिजनकत्वात् । तद्यथा- 'पुरुषः सर्वपापैः प्रमुच्यते' (मा.पु. 98.5) । अत्रापादानकारकात् पञ्चमीं विभक्तिमप्रयुज्य या तृतीया विभक्तिः प्रयुक्ता, सा सर्वथा दोषायैव कल्पते । अत्र तु कर्मणि वाच्ये वाक्ये पापरूपं कर्तृकारकं तृतीयया विभक्त्या प्रदर्शितं; पुरुषरूपश्च कर्मकारकं प्रथमया विभक्त्योच्चारितमिति विकृतार्थप्रतीतिर्जायते । (अर्थात् पापकर्मभिरेव मुक्तिः सम्प्राप्यते इत्यनिष्टार्थप्रतीतिः व्याकरणान्तरेणापि दूरीकर्तुं नैव शक्यते । अत एते प्रयोगा अपाणिनीया असाधवश्च सन्तीति निश्चीयते ॥ [अत्रैकं स्पष्टीकरणमपि विनिवेशनीयम् :- श्रीहेमचन्द्राचार्यैः यद् ''ऋते योगाद् द्वितीया'' चेति सूत्रं प्रणीतम् । किन्तु तेषां शब्दानुशासनात् प्रागपि महाभारतादौ 'ऋते' योगे द्वितीया प्रयुक्तासीत् । यथा - ''ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति एते'' इति श्रीकृष्णेन भगवद्गीतायामुक्तमेव । अर्थात् 'ऋते' इति निपातेन सह प्रयुज्यमाना द्वितीया विभक्तिः आर्षप्रयोगरूपेण स्वीकर्तव्या ॥]

4.1 मार्कण्डेयपुराणस्यापाणिनीयप्रयोगान् सूक्ष्मेक्षिकया पर्य्यालोच्य निष्कर्षरूपेणेदं निवेद्यते -

(1) मार्कण्डेयपुराणे येऽपाणिनीयप्रयोगाः सन्ति, प्रायस्ते सर्वेऽनार्षाः प्रयोगाः । पादयोर्मध्ये यः सन्धेरभावो दृश्यते तत्सर्वथेतिहासप्रसिद्धम् । अतस्तादृशं छन्दोविधानमार्षत्वेन स्वीक्रियते । एवञ्च 'अभीमान' इति दीर्घेकारयुक्तोऽयं शब्दोऽपि आर्षत्वेन स्वीकार्यः । परन्त्वन्ये येऽसाधवः प्रयोगाः सन्ति, ते प्राकृतानुकारिणः प्रयोगा इत्यपि कथयितुं न शक्यते ॥

(2) पुराणकारोऽयमनुष्टुप्छन्दसो मर्यादां यथाकथञ्चिद् निर्वोढुमेव व्याकरणशास्त्रीयान् नियमान् व्यभिचरति ॥

(3) श्रमसाध्यानां श्लोकानामपाणिनीयप्रयोगाणाञ्च बाहुल्यं मार्कण्डेय-पुराणस्याष्टमेऽध्याये (हरिश्चन्द्रस्याख्याने) वरीवर्तते ॥

(4) अपि चैतादृशा असाधुप्रयोगा मार्कण्डेयपुराणस्य प्राचीनतमेष्वध्यायेषु, देवीमाहात्म्यस्य चाध्यायेष्वविशेषरूपेण विलसन्ति । अतः पुराणकारस्यास्य श्लोकरचनाविषये भूयिष्ठमकौशलमास्त इति प्रमाणपुरस्सरमुपस्थाप्यते । पुराणस्यास्य रचनाकालः परवर्ती (अर्वाचीनः) स्यादित्यप्यनुमीयते ॥

—x—

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain.Digitized by eGangotri.

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri.

एकेनुन्य पदंमनीबेयेप्रसव्या
पांचपांचजेपुत्र अजीतका
हावोतेअधीपती शोभाव्याघ्
रसत्र चंद्रचंद्रावतीनीकथा
रुडीवातरसाल शांणगपुरु
षतेसंभलसे मांहेरसेजो
माल साबीसतस्याशोरठो
गाहागाथाकेगीत रसीक
जनरीजेघणु मंडीतजनु
नेप्रीतघ घुरखंतीतोभल[illegible]
पुंन्यनहीजेहपास गो[illegible]
घोलजेहदले एकठुंअनीछ
श राजसभानीरीजवेच
तुरनरएहेवाहाहे स[illegible]
सनहठे गुणीजेन[illegible]
पे

[illegible] આસવ [illegible]
[illegible] ઉતો [illegible] જોઈ
[illegible]
[illegible] હોય તો [illegible]
[illegible]

અઘોરી વેળાનું હરિતવરણું ખેતર ચડ્યું
વિચારે એવું કે ખલખલ થતો ગોળ સાથળો;
અને આ કોરો તો બસ [illegible] કરી: આંખ મળતાં
ઊછળ્યાં ધાતાણો પુનરપિ, હવે તે રખડતો
રહ્યો ભીંતે. એવું વિહગ જઈ ત્યાં, સીમ નીરખી
મેં છે ગીતોનું સ્મરણ. કહું છું કાન સરવા.
[illegible]

॥ [illegible]
दियांसव्यासक्कायिसंमायिद्यासमा
मालद्धामाणखलद्धासाणखुपिसायति
विसिलंविचवियाणिंकवणियंतपियंव
खुमंद्धाद्दाएसणंविएणणंणलखुविणल
सीणदंसमखुद्दांणुणियाञ्चद्धातिसि
सिसरंसिंजावंजागरातंदीसमाणीषड

सांभलभरवर्णवक[illegible]
पत्यएआक्षान वरए[illegible]
वती बीम्बमांहेवास्तांन गाय
दीघेनेसांभले तेनप्रसनउ
मयाहरा [illegible]
तीनी[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

(૬)

કવિ જયદેવના સંગીતકાવ્ય[illegible]

વાદની [illegible] છઠ્ઠી આવૃત્તિનો ઉપ[illegible]

તેનો ઉત્સાહપૂર્વક પ્રદેશ લાભ લે[illegible]

રમાં તન્મયતા મેળવી સાથેસાથે મર્યાદ[illegible]

ભાષાની સરળતા ગુમાવતી નથી અને[illegible]

સત્કારી છે. મૂળની સુવિખ્યાત સંદર્ભશુદ્ધિ[illegible]

ઘટાડી નથી. વળી ગીર્વાણની રસસમૃદ્ધિ ગુ[illegible]

ઓપતી છે, પણ [illegible] રચનાના પરાઈ દૃષ્ટાવી[illegible]

સંસ્કરણમાં છાપા આકર્ષક રીતે ઓળખાઈ આવ[illegible]

સુરેખ કરવા કાળજી રાખી છે. બીજાનું અનુકરણ ક[illegible]

ને ઉદ્દેશીને દલપતરામ કવિ કહે છે કે

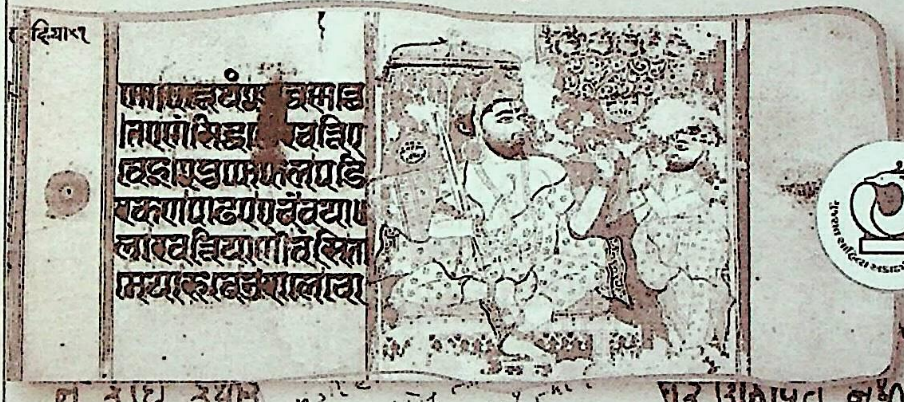

ન કોઈ ક્યાર [illegible] ર ઉભાપતુ નથી

તેમ જ સુશોભિ[illegible] ક્ષીરમાં જનાર

માત્ર દૂધ [illegible] -જનાર નહિ.

ભાગવત [illegible] છે. કથા-

ભાગના રાસિયાઓ [illegible] છે. તત્ત્વ-

જિજ્ઞાસુને તત્ત્વજ્ઞાનરૂ[illegible] અનુવાદ આકર્ષે છે. ભક્તિભાવિત-

Vasant Bhatt Collection, Gujarat

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri.

इस पुस्तक में ....

- वेदमन्त्रों से सम्बद्ध पाँच अनुसन्धानात्मक आलेख रखे गये हैं। जिनमें विशेष रूप से वेदमन्त्रों में परम्परागत आस्था से जिस आनुपूर्वी को नियत की गई एवं अपरिवर्त्य मानी गई है, उसके पीछे क्या रहस्य है ? वह स्पष्ट करने के लिए भाषिक दृष्टि से वेदमन्त्रों के पाद, वृत्त, स्वर एवं पदक्रम की संरचना उद्घाटित की है। सामवेदीय प्रातिशाख्य का विवेचन किया है। ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेय ब्राह्मण में आये हुए शुनःशेपाख्यान का अभूतपूर्व अर्थबोध प्रस्तुत किया है। विद्वानों के द्वारा हिरण्यगर्भ सूक्त में भारतवर्ष की भौगोलिक रेखाएँ अंकित करने का भी उपक्रम किया गया है, किन्तु वेदों की अनादिता को लेकर उस मत की पुनः परीक्षा की गई है।

- संस्कृतभाषा के अध्ययन में पाणिनीय व्याकरण की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। किन्तु उसका गाम्भीर्य अभी भी पूर्णतः उद्घाटित नहीं हो पाया है। "अष्टाध्यायी व्याकरण में अर्थ का स्थान कहाँ पर है ?, हेतु पद की अनुवृत्ति जहाँ मानी गई है वहाँ क्या सर्वत्र एक समानार्थ का ही अनुसरण हो रहा है ?, इस व्याकरण में ज्ञापकसिद्ध वचन होते हैं वे कैसे आविर्भूत किये गये हैं ?, इस व्याकरण में लक्षणावृत्ति क्यों नहीं मानी गई है और उसमें क्या प्रमाण है ?, वैकल्पिक रूपों की सिद्धि में व्यवस्थितविभाषा भी भाष्यकार ने सोची है, उसका स्वरूप एवं प्रयोजन क्या है ?, पञ्चधा वृत्ति में एकशेष को कैसे वृत्ति मानी जाय ?, भट्टोजि दीक्षित की कौमुदी में भी क्या कुछ विप्रतिपत्ति उठाई जा सकती है ?" इत्यादि गम्भीरतर प्रश्नों के समाधान यहाँ सोचे गये हैं। तथा पाणिनि एवं यास्क के काल का पौर्वापर्य निश्चित करने के लिए इन्द्र जैसे मिथकाश्रित सूत्रोक्त शब्द का पहली बार विनियोग किया है।।

- "पुराणों में केवल कपोलकल्पना एवं आधुनिक विज्ञान को असम्मत कहानियाँ लिखी गई है" ऐसी मान्यता का परिमार्जन करनेवाले पाँच आलेख हैं। श्रीमद्-भागवत पुराण की रचना के पीछे सांस्कृतिक परिवर्तन-यात्रा का आलेखन करने का हेतु दिखाई रहा है उसको निरूपित किया है। तथा अतिप्राचीन काल की आर्य प्रजा ने सोमनाथ तीर्थ का जो भौगोलिक एवं खागोलिक रहस्य ढूँढ लिया है - ऐसा ज्ञातव्य विषय उपस्थापित किया गया है। अन्त में, प्राचीनतम पुराणों की रचनाशैली के रूप में निर्वचनों का वैशिष्ट्य तथा परवर्ती काल के पुराणों की भाषागत दुर्बलताएँ प्रदर्शित की गई हैं।।

ISBN 978-93-88197-48-9
9 789388 197489
Price: ₹150/-

Vasant Bhatt Collection, Gujarat